07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 160

प्राच्यवाद, प्राच्यविद्या और वि-उपनिवेशीकरण

राधावल्लभ त्रिपाठी

रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 161
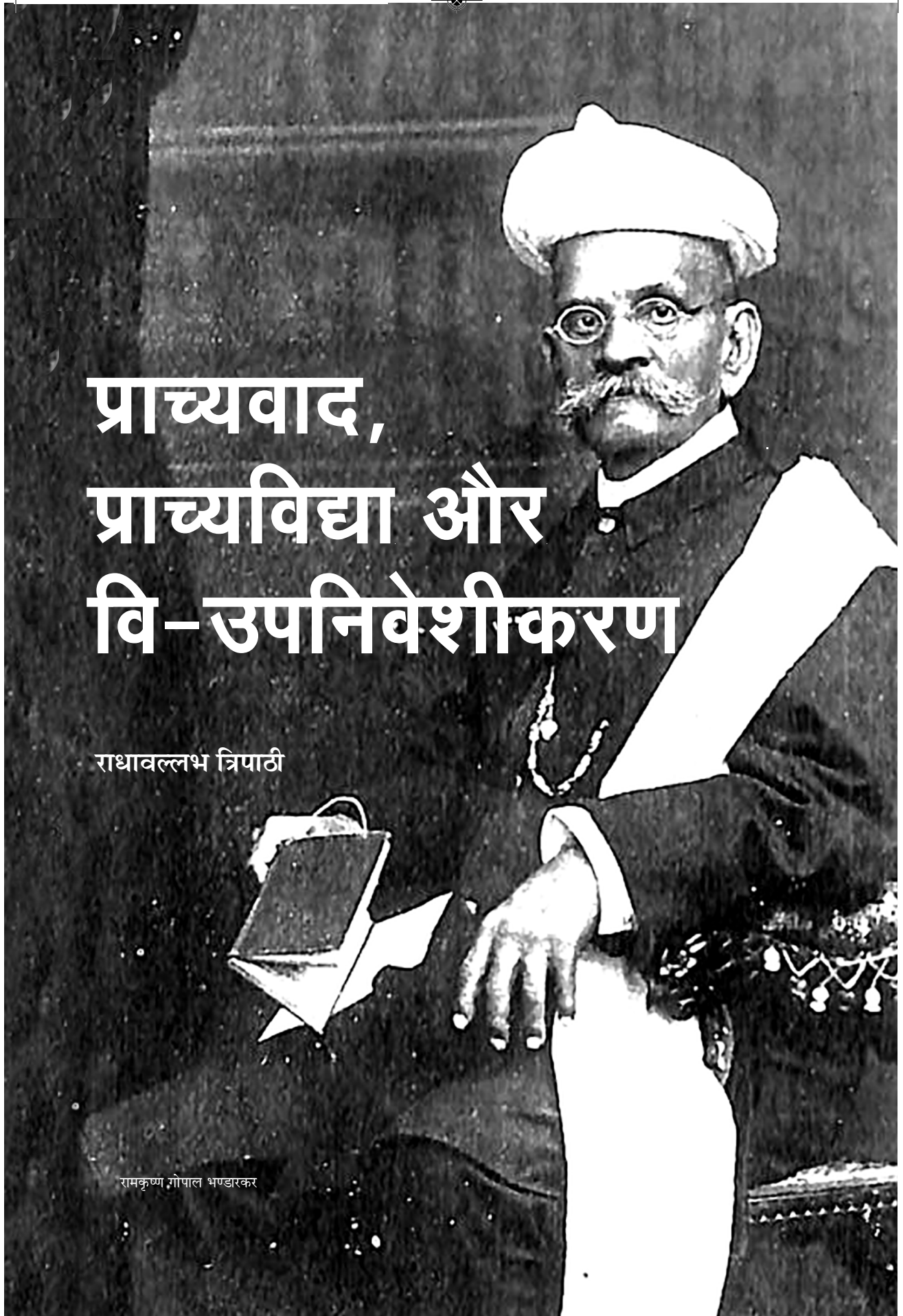
पूर्व के देशों के समाज, साहित्य, संस्कृति, इतिहास और भाषाओं का अध्ययन प्राच्यविद्या है। ज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में प्राच्यविद्या पिछले दो सौ सालों में विशेष रूप से विकसित हुई। इसे उपनिवेशवाद तथा युरोप द्वारा अपनी सत्ता के विस्तार के अभियान की उपज माना जाता है, जो सही नहीं है। प्राच्यविद्या या 'ओरिएंटल लर्निंग' शब्द अवश्य हाल के दो सौ वर्षों में प्रचलन में आया, पर ज्ञान की जिन परम्पराओं को प्राच्यविद्या कहा गया है, उनकी जड़ें सुदूर अतीत में हैं।

प्राच्यवाद और प्राच्यविद्या

एडवर्ड सईद प्राच्यविद्या के स्थान पर प्राच्यवाद (ओरिएंटलिज़म) शब्द का प्रयोग करते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक *ओरिएंटलिज़म* में कथित प्राच्यवाद के दोहरे चरित्र को बेनक़ाब किया है। सईद के इस ग्रंथ की प्रतिज्ञा उनके इस कथन से समझी जा सकती है— प्राच्यवाद के ज्ञान का कोई आशय अगर है, तो यही कि यह ज्ञान के, किसी भी प्रकार के ज्ञान के, कहीं भी किसी भी समय, मोहक अध:पतन की याद दिलाने वाला है— पहले की अपेक्षा आज और भी अधिक।[1] सईद की समग्र मीमांसा को एकांगी कह कर उसका काफ़ी प्रतिवाद भी हुआ है, पर उनके प्रबल तर्कों व ऐतिहासिक साक्ष्यों पर आधारित चिंतन से जो उत्तर-आधुनिक विमर्श निर्मित हुआ उसकी चुनौतियाँ बरक़रार हैं। सईद ने प्राच्यविद्या के माध्यम से पश्चिम की वर्चस्ववादी राजनीति की क़लई खोल दी। इससे आधिपत्य और अधीनता के संबंधों के अंतर्विरोध उजागर हुए। पश्चिम का पूर्व के प्रति रवैया उसे इतर (अदर) के रूप में देखने का है। प्राच्यवाद एक निर्मिति है, इसे मिथ्या और कल्पना बताते हुए सईद सिरे से ख़ारिज करते हैं। उनकी पद्धति फ़ूको और ग्राम्शी की विचारधारा से परिचालित है। उनके अनुसार कथित प्राच्यवाद सत्ता और ज्ञान के अनैतिक गठबंधन का उदाहरण है। सईद ने यह भी स्थापित किया कि ओरिएंटलिज़म के अंतर्गत इसके अध्येताओं ने पूर्व को एक स्थिर अश्मीकृत कोटि के रूप में प्रस्तुत किया, इससे पूर्व की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता को नहीं जाना जा सकता।

सईद की सीमाएँ

सईद के इस विश्लेषण पर भारत, एशिया और यूरोप के विचारकों ने असहमतियाँ ज़ाहिर कीं। कहा गया कि उनका सारा प्रतिपादन एकपक्षीय और पूर्वग्रह से ग्रस्त है। सईद ने युरोप, विशेष रूप से इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के प्राच्यविद्या-विदों को दृष्टि में रख कर अपनी बातें कही हैं। रूस और इटली के अध्येताओं पर उनकी निगाह नहीं गयी। यह तो उनसे उम्मीद करना ही बेकार है कि वे इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के प्राच्यविद्याविदों के समानांतर पूर्वी देशों के पण्डितों और अध्येताओं द्वारा पिछले दो सौ सालों में अपने ही देशों की कला, संस्कृति, साहित्य और परम्पराओं के अध्ययन का नोटिस लेंगे। आनंद कुमारस्वामी की तो बात दूर ही रही, उनका तो राहुल सांकृत्यायन से भी कोई सरोकार नहीं है। सईद की सारी व्याख्या प्राच्यविद्या की बहुलता की अनदेखी करती है। उनका सम्बोध्य अमेरिका और युरोप है। एक भिन्न अर्थ में उनके लिए पूरब के लोग उसी तरह इतर बने रहते हैं, जैसे युरोप के विलियम जोंस से लगा कर बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी तक के पश्चिमी प्राच्यविद्या-विदों के लिए। सईद रूस के प्राच्यविद्याविदों जैसे शेरबात्स्की, बारान्निकोव, सेरेब्रयाकोफ़, दीमशित्स आदि का ज़िक्र नहीं करते।

सईद के विचारोत्तेजक काम का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि प्राच्यवाद और प्राच्यविद्या को एक मान कर हमारे अध्ययनों में एक घालमेल होता गया है। प्राच्यवाद वह अनुशासन है जिसे पश्चिम

[1] एडवर्ड सईद (1978) : 328.

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 162

के लोग या तो अपनी समझ की अभिवृद्धि और अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए जन्म देते और बढ़ाते हैं। जितने अर्थ में वह पूर्व के देशों के विषय में सत्य के पूर्वग्रह रहित संधान में सहायक होगा, उतने अर्थ में ही वह प्राच्यविद्या का अंग हो सकता है, अन्यथा सईद जिसे प्राच्यवाद कह रहे हैं, वह हमारे लिए कूड़े में फेंक देने की वस्तु है। सईद की किताब का दूसरा ग़लत नतीजा यह हुआ कि ओरिएंटलिज़म या प्राच्यवाद शब्द अकादमिक हलक़ों में अचानक बेहद लोकप्रिय हो गया। जहाँ तक मेरी जानकारी है, पूर्वी देशों की संस्कृति, कला, साहित्य और परम्पराओं का अध्ययन करने वाले पश्चिमी विद्वानों ने स्वयं इसका प्रयोग नहीं किया। वहाँ इसके लिए ओरिएंटल स्टडीज़ या ओरिएंटल लर्निंग जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया। सईद ने ओरिएंटलिज़म के नाम पर जो बहुत सही पर एकतरफ़ा प्रतिपादन किया, उससे प्राच्यविद्या ही त्याज्य मानी जाने लगी, और विदेशों के कतिपय विश्वविद्यालयों में प्राच्यविद्या विभागों के नाम एशियाई अध्ययन विभाग के नाम से बदल दिये गये या रखे गये।

सईद ने अपना विश्लेषण और विखण्डन ज़्यादातर मध्य एशिया के देशों के लिए बरते गये प्राच्यवाद पर केंद्रित रखा है। उनकी ख़ुद की ज़मीन वही है। भारत के मुक़ाबले अपनी कट्टरता के कारण अरब देश पश्चिम के बीच असहज रहे, साथ ही वे पश्चिम के द्वारा कहीं अधिक दबाए और दबोचे गये, और इस अभिभाव ने उन्हें पश्चिम के प्रति अधिक असहिष्णु बनाया। सईद इस बात को भी नहीं समझ सके थे कि जिस ओरिएंटलिज़म की वे एक घृणित तत्त्व के रूप में छीछालेदर कर रहे हैं, वह भारत जैसे देश में प्राच्यविद्या का सहचर और उससे अभिन्न भी होता चला गया है, और जड़ें सदियों पहले रोपी गयी हैं।

सईद ने कुछ ऐसा कारनामा किया है कि कपड़ों की गंदगी साफ़ करते-करते कपड़े ही तार-तार कर दिये।

डेविड कॉफ़ ने सईद के दूसरे छोर पर जा कर प्राच्यवाद का सकारात्मक पक्ष रेखांकित किया। उसके अनुसार प्राच्यविद्या एक ऐसा अनुशासन है, जिसमें पश्चिम का अध्येता पूर्व की संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का निष्पक्ष आकलन करता है। कॉफ़ ने अपना अध्ययन प्राय: ब्रिटिश प्राच्यवाद पर केंद्रित किया तथा उसे बांग्ला नवजागरण के प्रबल आंदोलन के एक उत्प्रेरक के रूप में स्थापित किया।

उपनिवेशवाद से मुक्त प्राच्यविद्या की परम्परा

पूर्व के देशों का अंतर्सांस्कृतिक, अंतर्समाजशास्त्रीय, अंतर्भाषीय और अंतर्साहित्यिक अध्ययन यदि प्राच्यविद्या है, तो पूर्व के सभी देशों में इसकी बड़ी पुरानी परम्परा रही है। *महाभारत* के एक संस्करण में लाक्षागृह से पाण्डवों को बच निकलने का संकेत देने के लिए विदुर युधिष्ठिर से म्लेच्छ भाषा में बात करते हैं, जिससे ज़ाहिर है कि म्लेच्छ भाषा का अध्ययन किया जाता था। कुछ विद्वानों के मत से म्लेच्छ भाषा ग्रीक है। इसी तरह अरब देशों में संस्कृत के *पंचतंत्र* जैसे ग्रंथों का अध्ययन और अनुवाद भी पाँचवीं-छठी शताब्दी से किया जाता रहा। नवीं शताब्दी में रचे गये स्मृतिग्रंथ *शुक्रनीति* में 32 विद्याओं की गणना की गयी है। इन में विभिन्न देशभाषाओं का ज्ञान तथा यवन-दर्शन— ये दो विद्याएँ भी गिनाई गयी हैं। यवन-दर्शन से शुक्र का आशय इस्लामी दर्शन से है। यवन-दर्शन भारत के शिक्षा संस्थानों— गुरुकुलों में एक अध्ययन के विषय के रूप में नवीं शती तक स्वीकृत हो गया था। शुक्राचार्य के पहले कामसूत्रकार वात्स्यायन ने भी ईसा से क़रीब दो सौ साल पहले चौसठ कलाओं के अंतर्गत विभिन्न देशभाषाओं या क्षेत्रीय भाषाओं के ज्ञान की गणना की है। यह सही है कि वात्स्यायन या शुक्र ने प्राच्यविद्या शब्द का प्रयोग नहीं किया, पर इस शब्द का प्रयोग न होने से यह विद्या थी ही नहीं यह नहीं कहा जा सकता। पारिभाषिक नाम की अनुपस्थिति परिभाषेय की अनुपस्थिति का प्रमाण नहीं कही जा सकती।

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 163
जिस तरह पुराणों के प्रणेता बार-बार बताते आ रहे थे कि हिमालय से लगा कर सागर तक का सारा देश भारत है, यहाँ के निवासियों की अपनी पहचान है, उसी तरह से वे इस तथ्य को ले कर भी सचेत थे कि पूर्व के देशों की संस्कृति, सभ्यता और भाषाओं में निकटता है। उन्होंने एशिया महाद्वीप न कह कर जम्बू द्वीप कहा, इसका आशय यह नहीं हो जाता कि वे एशियाई संस्कृति और प्राच्यविद्या के आशयों से अनभिज्ञ थे।

प्राच्यविद्या की यह परम्परा इत्सिंग और ह्वेनसांग जैसे चीनी यात्रियों और अध्येताओं तथा अलबिरूनी और दाराशिकोह जैसे विद्वानों के काम से आगे बढ़ती है। यह सिलसिला अभी भी जारी है। रामचंद्र गुहा रिचर्ड जाफ़े की किताब *सीकिंग शाक्यमुनि : साउथ एशिया इन दि .फ़ार्मेशन ऑफ़ मॉडर्न जापानीज़ बुद्धिज़म* के हवाले से बताते हैं कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में भारत के साथ आध्यात्मिक संबंधों का पुनरान्वेषण करने के लिए जापान से कई यात्री भारत आते रहे, जो कौतुकप्रिय पर्यटक नहीं थे। वे बुद्ध के माध्यम से भारत और जापान की नयी पहचान खोजना चाहते थे। नंजो बु'न्यु (1849-1927) जापान से निकल कर ऑक्सफ़र्ड में मैक्स मुलर से संस्कृत का अध्ययन करता रहा। फिर वह 1887 में भारत आया। कावागुची एकाई (1866-1945) दो दशक तक भारत और तिब्बत में रहा, उसने सात साल काशी में गुज़ारे। जाफ़े मानते हैं कि इन यात्रियों के अध्ययनों में बृहद् एशिया की अवधारणा बनती है, जो युरोपीय उपनिवेशवादी सत्ता को चुनौती प्रस्तुत करती है।

प्राच्यविद्या को प्रतिष्ठित करने में अशोक मौर्य के समय से लगा कर राहुल सांकृत्यायन के समय तक भारत में आने वाले तथा भारत से बाहर जाने वाले उन असंख्य अज्ञात साहित्यप्रेमियों, संस्कृतिकर्मियों और साहसी प्रवासियों का भी बहुत बड़ा हाथ है, जिन्होंने अश्वघोष जैसे महाकवियों के काव्यों, बौद्ध दर्शन के ग्रंथों या पालि-साहित्य के चीनी, तिब्बती और जापानी भाषाओं में अनुवाद किये, जिनके महनीय अवदान के बूते पर भारत में नष्ट हो चुके बहुसंख्य संस्कृत-ग्रंथों को हम फिर हासिल कर सके तथा धर्मकीर्ति, नागार्जुन और दिङ्नाग जैसे दिग्गज दार्शनिकों की विलुप्त रचनाओं का ही नहीं, उन विचारकों की मनीषा का भी अपने समय में नवाविष्कार कर सके।

दूसरी ओर संस्कृत से अरब देशों की भाषाओं में तथा फिर लैटिन आदि भाषाओं में अनुवादों का भी सिलसिला चला आ रहा था। 1651 में अब्राहम रोजर ने भर्तृहरि के सुभाषितों का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद किया। इसके बाद भर्तृहरि के काव्य के डच तथा जर्मन में अनुवाद हुए। प्रख्यात दार्शनिक जे.जी. हर्डर जर्मन अनुवाद से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने जर्मन भाषा में ही इसका पुन: रूपांतर किया जो उनकी पुस्तक *अदशीथ दि ऐनशीथला* 1792 में प्रकाशित चतुर्थ संस्करण में सम्मिलित किया गया। हर्डर ने कहा कि उस काव्य से उन्हें आध्यात्मिक

सईद ... से उम्मीद करना ही बेकार है कि वे इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के प्राच्यविद्याविदों के समानांतर पूर्वी देशों के पण्डितों और अध्येताओं द्वारा पिछले दो सौ सालों में अपने ही देशों की कला, संस्कृति, साहित्य और परम्पराओं के अध्ययन का नोटिस लेंगे। आनंद कुमारस्वामी की तो बात दूर ही रही, उनका तो राहुल सांकृत्यायन से भी कोई सरोकार नहीं है। सईद की सारी व्याख्या प्राच्यविद्या की बहुलता की अनदेखी करती है। उनका सम्बोध्य अमेरिका और युरोप है। एक भिन्न अर्थ में उनके लिए पूरब के लोग उसी तरह इतर बने रहते हैं, जैसे युरोप के विलियम जोंस से लगा कर बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी तक के पश्चिमी प्राच्यविद्या-विदों के लिए। सईद रूस के प्राच्यविद्याविदों जैसे शेरबात्स्की, बारान्निकोव, सेरेदर्याकोफ़, दीमशित्स आदि का ज़िक्र नहीं करते।

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 164

शक्ति मिली है। 1806 में जर्मनी की साहित्यकार केरोलीन फान गुंदेरोद *भर्तृहरिशतक* के एक अनूदित अंश को अपनी समाधि पर स्मृति-लेख के रूप अंकित कराने के लिए छोड़ गयीं।

लासेन ने *सांख्यकारिका* का लैटिन भाषा में 1832 में अनुवाद किया। अपने ग्रंथ *इंडेशा आल्टरटुम्सकुण्ड* (1847-58) में उन्होंने यूनान तथा रोम के भारत व संस्कृत साहित्य के साथ परिचय का विस्तृत सर्वेक्षण व अध्ययन प्रस्तुत किया।

जीन बेप्टिस्चे जोसेफ जेंटील 1752 में भारत आया और 1773 से उसने अवध में नौकरी की। शुज़ाउद्दौला के निधन (1775) तक वह अवध में रहा। हिंदुस्तानी का अच्छा अभ्यास करके उसने हिंदू व इस्लामिक दोनों परम्पराओं की पाण्डुलिपियों का संकलन किया।

भारत में आ कर वेद की पाण्डुलिपियों पर कार्य करने वाले तथा वेद की सम्पूर्ण पाण्डुलिपियों का संग्रह करने वाला एक और युरोपीय विद्वान् फ्रांस का एंकेतिल दुपेरों था। दुपेरों पूर्व के रहस्य की खोज में भारत आया था, और इस सिलसिले में सूरत तक जा पहुँचा। यहाँ आ कर उसने *अवेस्ता* की प्रति भी प्राप्त की। सूरत में रहते हुए ही 1759 में उसने *अवेस्ता* का अनुवाद कर डाला। साथ ही, तेरहवीं शताब्दी में पारसियों के भारत आगमन पर भारतीय पण्डितों से संवाद के लिए उनकी ओर से तैयार कराए गये इस धर्मग्रंथ के संस्कृत अनुवाद का भी पता दुपेरों ने लगाया। इसके पश्चात् वह उपनिषदों की ओर आकर्षित हुआ। भारत से पेरिस लौट कर उसने उपनिषदों के लैटिन अनुवाद का कार्य 1786 में पूरा किया। दाराशिकोह के उपनिषदों के लैटिन में अनुवाद दुपेरों ने किये जो *ओपनेखत* शीर्षक से पेरिस से 1801-1802 में दो खण्डों में छपे। इन अनुवादों का रिक्सनेर नामक विद्वान् ने 1808 में जर्मन भाषा में अंशत: अनुवाद किया। लैटिन तथा जर्मन में अनुदित उपनिषदों के ये रूपांतर उन्नीसवीं शताब्दी में शॉपेनहार तथा शेलिंग जैसे दार्शनिकों द्वारा पढ़े गये। शॉपेनहार ने उपनिषदों को सर्वोच्च मानवीय प्रज्ञा की परिणति बताया। वे उपनिषदों के तत्त्व-चिंतन पर इतने मुग्ध थे कि एंकेतिल दुपेरों के *ओपनेखत* को नित्य सिरहाने रख कर सोते थे। शॉपेनहार का उपनिषदों के विषय में यह कथन बहुश: उद्धृत होता आया है : 'उपनिषद् से बढ़कर संसार में और कोई पुस्तक नहीं है, जिसके पढ़ने से आत्मा को ऐसी गहन शांति मिल सके, उपनिषद् मेरे जीवन के लिए परम विश्वास रहे हैं, और मृत्युपर्यंत रहेंगे।'

दुपेरों ने केवल उपनिषदों का अनुवाद ही नहीं किया, दाराशिकोह की भाँति उसने दो चिंतन धाराओं, ईसाइयत तथा वेदांत के बीच समानताओं का भी हर्म्युनिटिक दृष्टि से विवेचन किया। दुपेंरों की झक का ही परिणाम था कि केवल उपनिषद् ही नहीं, वैश्विक संवाद के एक और बड़े सेतु का उसके कार्य से पुनराविष्कार हो सका, जो शताब्दियों से उपेक्षित था। एडवर्ड सईद दुपेरों के लिए कहते हैं : 'उसने भूमध्यसागर के तटीय देशों की मानवता का शोधन और विस्तार करते हुए मानवीय प्रतिभा के दो गोलार्धों के बीच एक समान धारा को खोज निकाला।' यह भी सत्य है कि दुपेरों के अवदान से आगे चल कर संस्कृत, ग्रीक तथा फ़ारसी के बीच तुलनात्मक भाषाशास्त्र का उपक्रम सम्भव हो सका।

दुपेरों 1755 में भारत आया और 1762 में पेरिस लौट गया। अठारहवीं शताब्दी में अन्य अनेक फ्रेंच पण्डित भारत आये।

इस बीच जर्मनी में भारतीय विद्या के अध्ययन का प्रबल केंद्र विकसित हो चला था। फ्रीड्रिख़ श्लेगल ने पेरिस में अलेक्ज़ेंडर हैमिल्टन से संस्कृत सीखी। श्लेगल के भाई ऑगस्ट विल्हेम (1767-1845) बॉन विश्वविद्यालय में 1818 में नियुक्ति पा कर जर्मनी में संस्कृत के पहले प्रोफ़ेसर बने। विल्हेम फान हुम्बोल्त (1767-1835), फ्रांज बोप (1791-1867), हर्मनब्रोखास (1806-1877), फ्रीड्रिख़ यूकर्ट (1788-1866) जैसे विद्वानों के कार्यों से भारत आर्यभूमि तथा एक समृद्ध प्राचीन संस्कृतिवाले देश के रूप में विश्वमान्य हुआ। इत्सिंग और ह्वेनसांग से लगाकर ज्याँ बेप्टिस्चे, जोसेफ़

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 165

जेंटील और एंकेतिल दुपेरों तक पूर्व के देशों के साहित्य, धर्म और संस्कृति के अध्ययन से प्राच्यविद्या का रोमांटिक प्रस्थान बना। इसमें भारत के प्रति एक सम्मोहन भरा आकर्षण था, आध्यात्मिकता के लिए भी ललक थी, जो पश्चिमी सभ्यता के प्रति वितृष्णा से उपजी थी। इसके समानांतर प्राच्यविद्या का एक और भी प्रस्थान चल पड़ा था, जिसमें पूर्व के देशों को लेकर कौतुक और उत्सुकता के साथ एक उपभोक्तावादी रुझान भी था। इसका विनियोजन औपनिवेशिक शासन ने अपने हक़ में किया।

तब तक प्राच्यविद्या यूरोप के लिए चुनौती बन चुकी थी। संस्कृत की खोज से बेबेल का टॉवर गिर पड़ेगा— यह भय मसीही धर्म के ध्वजधारियों में व्याप्त था। तब संस्कृत को पुरोहितों के द्वारा रचा गया छद्म बताया जाने लगा। 1772 में जोंस को रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का सदस्य चुना गया, उन्होंने इस अवसर पर अपने वक्तव्य में कहा : 'मैं अपने इस विश्वास की घोषणा करना चाहता हूँ कि नूह की भाषा अब सदा के लिए खो गयी है।' जोंस के संस्कृत विषयक उद्गार तथा भारोपीय भाषा के सिद्धांत बीसवीं शताब्दी में प्राच्यविद्या के अनुशीलनों में सतत उपस्थित रहे हैं।

दुपेरों पूर्व के रहस्य की खोज में भारत आया था, और इस सिलसिले में सूरत तक जा पहुँचा। यहाँ आ कर उसने *अवेस्ता* की प्रति भी प्राप्त की। सूरत में रहते हुए ही 1759 में उसने *अवेस्ता* का अनुवाद कर डाला। साथ ही, तेरहवीं शताब्दी में पारसियों के भारत आगमन पर भारतीय पण्डितों से संवाद के लिए उनकी ओर से तैयार कराए गये इस धर्मग्रंथ के संस्कृत अनुवाद का भी पता दुपेरों ने लगाया। इसके पश्चात् वह उपनिषदों की ओर आकर्षित हुआ। भारत से पेरिस लौट कर उसने उपनिषदों के लैटिन अनुवाद का कार्य 1786 में पूरा किया। दाराशिकोह के उपनिषदों के लैटिन में अनुवाद दुपेरों ने किये जो *ओपनेखत* शीर्षक से पेरिस से 1801-1802 में दो खण्डों में छपे। इन अनुवादों का रिक्सनेर नामक विद्वान् ने 1808 में जर्मन भाषा में अंशतः अनुवाद किया।

प्राच्यविद्या में उपनिवेशवादी विमर्श का आरम्भ

युरोप से आने वाले कुछ अन्य यात्रियों, पर्यटकों या अध्येताओं के भारत और एशिया के अन्य देशों में आवागमन ने प्राच्यविद्या के वे आयाम भी खोले, जो व्यावसायिकता, वाणिज्य, सत्ता और अधिकार की लिप्सा से जुड़े हुए थे। ऐसे यात्रियों में पुर्तगाली यात्री दुआर्ते बारबोसा (1480-1521) का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है, जो पूर्वी अफ़्रीका के देशों की यात्राएँ करता हुआ मालाबार आ पहुँचा था। बारबोसा 1501 से 1516 के बीच भारत रहा। उसने मलयालम सीखी, दक्षिण में रहते हुए दुभाषिये का काम किया, और अपने देश लौटकर पुर्तगाली भाषा में प्रवास का वृत्तांत लिखा, जो स्पेनी और अंग्रेजी भाषाओं में अनूदित हुआ। बारबोसा के यात्रावृत्त से भारत में आने वाले डच, अंग्रेज़ और फ्रांसीसी पर्यटकों तथा व्यवसायियों की संख्या बढ़ी। उसका यात्रावृत्त अपने आप में प्राच्यविद्या के उपनिवेशवादी प्रस्थान का श्रीगणेश है।

इस परम्परा में एक प्राच्यविद्या वह भी पनपी, जिसका उद्देश्य आत्मबोध न हो कर पूर्व को पश्चिम के सामने परोसना था। इसकी पद्धति युरोप के लोगों की ज़रूरत के मुताबिक़ ढाली गयी। युरोपीय मानस का संस्कृत भाषा और उसके साहित्य से साक्षात् संवाद का व्यवस्थित उपक्रम 1773 में वारेन हेस्टिंग्ज़ को बंगाल का गवर्नर जनरल बनाए जाने के साथ हुआ। हेस्टिंग्ज़ ने न्यायालयों में विवादों के निराकरण के लिए पण्डितों की सहायता लेने की पहल की, जिससे न्यायाधीशों के पण्डितों के साथ संवाद का सिलसिला बना, और हेस्टिंग्ज़ ने ही जगन्नाथ तर्कपंचानन आदि पण्डितों की मण्डली से *विवादार्णवसेतु* नामक बृहद्

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 166

धर्मशास्त्रीय ग्रंथ का निर्माण कराया। संस्कृत के पण्डितों का सहयोग धर्मशास्त्र के ग्रंथों का अंग्रेज़ी अनुवाद करवाने तथा उनके आधार पर एक प्रामाणिक संहिता तैयार करवाने में लिया गया।

पण्डित राधाकांत शर्मा ने वारेन हेस्टिंग्ज़ के आग्रह पर भारतीय इतिहास और संस्कृति को समझाने के लिए *पुराणार्थप्रकाश* नाम से एक पुस्तक संस्कृत में लिखी। इस पुस्तक में चार खण्ड थे— कालसंख्याप्रकरण, धर्मनिरूपणप्रकरण, सृष्ट्यादिनिरूपण तथा राजवंश। पद्दैया ने इस पुस्तक को भारतीय इतिहास के लेखन का पहला प्रयास माना है।[2] हेस्टिंग्स को यह पुस्तक अपने काम की लगी, उन्होंने इसका फ़ारसी में अनुवाद करवाया।

हेस्टिंग्ज़ ने अपने एक सहयोगी चार्ल्स विल्किंस को संस्कृत पढ़ने वाराणसी भेजा। विल्किंस ने *श्रीमद्भगवद्गीता* पढ़ कर उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया। 1785 में विल्किंस का *श्रीमद्भवगद्गीता* का अनुवाद इंग्लैंड से छपा। युरोप भारतीय चिंतन से चमत्कृत हुआ। इसके दो वर्ष पश्चात् विल्किंस ने *हितोपदेश* का भी अनुवाद प्रकाशित कराया। 1795 में उसका महाभारत का *शकुंतलोपाख्यान* का अनुवाद प्रकाशित हुआ। विल्किंस ने भारतीय अभिलेखों का अध्ययन करके भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व-संस्कृति के अनुशीलन का द्वार भी खोला। 1823 में जर्मनी के एक और दार्शनिक श्लेगल का *गीता* का संस्करण और अनुवाद प्रकाशित हुआ, जिसने हुम्बोल्त जैसे दिग्गज भाषाशास्त्री तथा हीगेल जैसे दिग्गज दार्शनिक को *गीता* की ओर आकर्षित किया। हुम्बोल्त ने *गीता* को मानवीय प्रज्ञा की सबसे गहन तथा उदात्त परिणति बताया।

इसी अवधि में धर्म प्रचार के लिए आने वाले ईसाई मिशनरियों के द्वारा संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन और संस्कृत में *बाइबिल* आदि धर्मग्रंथों के अनुवाद करने के उपक्रम ने ज़ोर पकड़ा।

जोंस का अवतरण और जोंस-मण्डली का पण्डितों से संवाद

वारेन हेस्टिंग्ज़ ने *विवादार्णवसेतु* के संकलन के लिए कुल ग्यारह पण्डितों की सेवाएँ ली थीं, इनमें से प्रमुख जगन्नाथ तर्कपंचानन को सम्मानस्वरूप तीन सौ रुपया प्रतिमाह वेतन दिया गया, बाक़ी पण्डितों को सौ रुपया प्रतिमाह। इन ग्यारह पण्डितों में से कम-से-कम पाँच सन् 1788 तक मौजूद थे और विलियम जोंस उनकी सहायता लेते रहे। इनमें से पण्डित गौरीकांत ने उनके पास की *विवादार्णवसेतु* की प्रति को संशोधित करने का काम किया।

सर विलियम जोंस (1746-1794) 1783 में कलकत्ता के सुप्रीम कोर्ट में मुख्य न्यायाधीश की हैसियत से भारत आये। जोंस एक कवि और प्रतिष्ठित विधिवेत्ता थे। ग्रीक, लैटिन, फ़ारसी आदि आठ भाषाओं के वे अच्छे जानकार थे। यह भी उल्लिखित है कि वे अट्ठाईस भाषाओं का अभ्यास कर चुके थे। भारत आते ही संस्कृत को भी उनके भाषा-ज्ञान के खाते में जुड़ना ही था। सईद ने उनकी प्रतिभा को बेंजामिन फ्रैंकलिन, विलियम पिट और सैमुएल जॉनसन के समकक्ष माना है।

कलकत्ता आ कर जोंस ने पण्डित रामलोचन से संस्कृत सीखी, जो ब्राह्मण नहीं थे (ब्राह्मण पण्डित म्लेच्छ जोंस को संस्कृत पढ़ाने के लिए तैयार नहीं थे।)। रामलोचन नादिया के प्रतिष्ठित वैद्य थे और यहीं रह कर स्थानीय बालकों को व्याकरण और धर्मशास्त्र पढ़ाते थे। रामलोचन से मिलने के लिए जोंस को नादिया ज़िले में जाना पड़ा। रामलोचन ने एशियाटिक सोसाइटी के रिसर्च जर्नल की सामग्री को सटीक बनाने में उनकी बहुत मदद की और इस मदद का ही नतीजा था कि जोंस और उनकी मण्डली के विदेशी प्राच्यविद्याविद् संस्कृत के शिलालेखों को समझने और उन पर शोध करने की दिशा में आगे बढ़ सके। एशियाटिक रिसर्च के पहले खण्ड में उल्लेख है कि संस्कृतपाठ पण्डित

[2] पद्दैया (2019) : 4.

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 167

रामलोचन के द्वारा की गयी व्याख्या के अनुसार अनूदित है। बाद में भी अनेक दानपत्रों और शिला-लेखों को समझने के लिए जोंस आदि रामलोचन पर निर्भर बने रहे। उनके अवदान का जोंस ने अपने अनेक प्रकाशनों में उल्लेख किया है। जोंस ने रामलोचन की तारीफ़ करते हुए लिखा है कि वे बेहतरीन विद्वान् तथा समझदार और पूर्वाग्रहरहित आदमी थे। पर जोंस को भारतीय इतिहास की समझ और उसके संबंध में अपने लेखन में पण्डित राधाकांत शर्मा से बहुत मदद मिली, जिनका उल्लेख हेस्टिंग्ज़ के संदर्भ में ऊपर किया गया है। राधाकांत की किताब का फ़ारसी अनुवाद देख कर वे समझ गये कि अनुवाद दुरुस्त नहीं हुआ है, और उन्होंने राधाकांत से सम्पर्क कर के मूल संस्कृत पुस्तक प्राप्त की। हेस्टिंग्ज़ की तरह जोंस ने भी राधाकांत की पुस्तक का उपयोग किया। जोंस राधाकांत से सलाह लेते रहे, और अपने निबंध *फ़ोनॉलॅजी ऑफ़ हिंदूज* में उन्होंने राधाकांत शर्मा के प्रति आभार भी ज्ञापित किया है।

जर्मनी के दार्शनिक फ्रीड्रिख़ श्लेगल ने संस्कृत बाद में पढ़ी, उसके पहले ही उन्होंने घोषित कर दिया था कि युरोपवासियों को चाहिए कि अब वे सर्वोत्कृष्ट रूमानी भाव के लिए पूर्व की ओर देखें। श्लेगल ने 1808 में प्रकाशित अपने ग्रंथ में और भी ज़ोर दे कर युरोप को पूर्व से शिक्षा लेने का संदेश दिया। नीरद सी. चौधुरी ने श्लेगल के इस ग्रंथ को भारत के माध्यम से युरोप के नवजागरण का घोषणापत्र ('मैनिफ़ेस्टो ऑफ़ अ न्यू रिनासाँ फ़ॉर युरोप फ्रॉम इंडिया') कहा है।

राधाकांत का *पुराणार्थप्रकाश* पा कर जोंस गद्गद हो गये थे, इसे उपलब्ध कराने वाले अपने मातहत श्री शोरे को उन्होंने लिखा कि तुमने तो मुझे खज़ाना ही भेज दिया है। और उन्होंने राधाकांत से मिलने की उत्कट इच्छा भी ज़ाहिर की थी। बाद में दोनों की जुगलबंदी से प्राच्यविद्या के खज़ानों के कई ताले खुले।

कलकत्ता आने के कुछ समय बाद ही भारतीय चिंतन और साहित्य से प्रभावित जोंस ने वारेन हेस्टिंग्ज़ को एक पत्र में लिखा था : 'हम वे बर्बर लोग हैं, जो यह समझते रहे कि सूरज उन्हीं के लिए उगता और अस्त होता है, और जो यह कल्पना नहीं कर सके कि जो लहरें हमारे द्वीप को घेरे हैं, वे दूसरे तटों पर मोती और सीपियाँ बिखेर चुकी हैं।'

जोंस को अपने अध्ययन-अनुसंधान में उक्त दो पण्डितों के अलावा एक तीसरे पण्डित गोवर्धन कौल का भी उतना ही सहयोग मिला। गोवर्धन कौल को पण्डित काशीनाथ ने कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट में पण्डित के पद पर नौकरी के लिए भेजा था। काशीनाथ चार्ल्स विल्किंस के शिक्षक रहे थे। कौल ने अपने को पण्डित के पद पर काम के लिए योग्य साबित किया।

जोंस को सहयोग देने वाली पण्डितमण्डली के एक और पण्डित पटना, बिहार के सरवर तिवारी थे। तिवारी ने धर्मशास्त्र को समझने और *विवादार्णवसेतु* का संक्षिप्त रूप *विवादसारार्णव* तैयार करने में जोंस की बड़ी मदद की। राधाकांत और सरवर तिवारी जोंस की मदद के लिए धर्मशास्त्र से संग्रह ग्रंथ तैयार करते रहे। इसी क्रम में जगन्नाथ तर्कपंचानन ने *विवादभंगार्णव सेतु* की रचना की। विलियम जोंस ने पण्डितों की उत्कृष्टतर विद्वत्ता तथा प्रामाणिकता के लिए सराहना की है।

काशी के जिन पण्डित काशीनाथ ने चार्ल्स विल्किंस को संस्कृत व्याकरण पढ़ाई थी, उनकी तारीफ़ करते हुए विल्किंस अघाते नहीं हैं। वे लिखते हैं— मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली था कि इतने उदार मन वाला पण्डित मुझे मिल गया, जो मेरे काम में मेरी पूरी सहायता करने में समर्थ था। इसी तरह पण्डित महेश ने चार्ल्स चेपमेन की सहायता की, पण्डित राधाचरण ने बनारस में सैम्युएल डेविस की। राधाचरण की मदद से डेविस ने भारतीय ज्योतिष की गणनाओं पर अपना शोध लेख तैयार किया, जो

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 168

ऐशियाटिक रिसर्चेज़ में छपा। देवनागरी लिपि में संस्कृत की नामावली के लेखन में जोंस और डेविस दोनों पूरी तरह राधाचरण पर निर्भर रहे।

एच.एच. विल्सन ने काशी के पण्डितों से संस्कृत पढ़ी। पण्डितों की सहायता से ही उन्होंने 1814 में *मेघदूत* का अनुवाद पूरा किया। वे 1811 से 1823 तक एशियाटिक सोसायटी के सचिव भी रहे और 1823 में ब्रिटिश सरकार की लोक शिक्षा समिति के सचिव रहे। सरकार उनकी बात सुनती थी। मैकाले की शिक्षानीति की घोषणा के बाद संस्कृतविद्या पर आये संकट के निवारण के लिए कलकत्ता के पण्डितों ने इन्हीं विल्सन को संस्कृत में छंदों में पत्र लिखे, विल्सन ने भी उनका संस्कृत कविता में उत्तर दिया।

जोंस के कलकत्ता में आगमन के कुछ महीने बाद ही बंगाल के पण्डित उनकी इज्ज़त करने लगे थे, जोंस का संस्कृत भाषा में उनसे संवाद भी होता था। पण्डितों के साथ होने वाली चर्चाओं में ही जोंस ने कालिदास और उनके नाटक *अभिज्ञानशाकुंतल* के बारे में जाना। 1785 में उन्होंने कालिदास के इस नाटक का अंग्रेज़ी अनुवाद किया। विलियम जोंस के इसी अनुवाद का जर्मन भाषा में अनुवाद जार्ज फ़ोस्टर ने 1791 में किया था, जिसे पढ़ कर महाकवि गोइथे मुग्ध हो उठे थे। *मनुस्मृति* और *ऋतुसंहार* का भी अंग्रेज़ी अनुवाद विलियम जोंस ने किया।

जोंस ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों में वारेन हेस्टिंग्स के बाद दूसरे नम्बर पर थे, उनकी प्रतिभा का लोहा कलकत्ता में माना जाता था। उनका रुतबा और दबदबा था। बावजूद इस सब के वे संस्कृत के उन पण्डितों से संवाद करने में कामयाब हुए, जो जितने ही स्वाभिमानी और अकड़ थे, उतने ही निरीह भी। पण्डितों से संवाद करने की तरक़ीब जोंस ने समझ ली थी। अपने किसी मित्र हेनरी डुंडास को 26 फ़रवरी 1788 को लिखे पत्र में उन्होंने बताया : 'ब्राह्मण लोग अपने शास्त्रों और साहित्य पर किसी की अभिरुचि से इतने प्रसन्न होते हैं कि उन्होंने अपना वह सारा संकोच झटककर अलग कर दिया है, जो मुग़लों ने अपनी कठोरता और असहिष्णुता के चलते उनमें पैदा कर दिया था।'

विलियम जोंस के साथ सहयोग करने में पण्डित अपना फ़ायदा भी समझ रहे थे। शायद उन्हें लगता था कि अकबर और शाहजहाँ के बाद पूरी एक शताब्दी में उनकी जो बौद्धिक सत्ता मटियामेट कर दी गयी थी, उसे फिर से पाने का समय आ गया है। यह सत्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि रामलोचन, राधाकांत शर्मा और गोवर्धन कौल न होते, तो जोंस का वह सारा विराट् उद्यम धरा का धरा रह जाता, जिसकी नींव पर औपनिवेशिक दौर में प्राच्यविद्या का महाप्रासाद खड़ा हुआ और संस्कृत साहित्य तथा प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन की दिशा में एक बड़ी क्रांति भी हुई, जिसने एक बड़ी सीमा तक आने वाली दुनिया की नियति तय की।

यह सत्य है कि जोंस तथा दूसरे युरोपीय विद्वानों के पण्डितों के साथ संबंधों में खटास भी कई बार आयी, और संवाद विसंवाद में बदलने लगा। पर जो संवाद हो सका, उसकी वैश्विक परिदृश्य के बदलाव में ख़ासी भूमिका रही। सईद और प्राच्यविद्या के तमाम विदेशी अध्येताओं ने जोंस, विल्किंस आदि के पण्डितों के साथ हुए संवाद की अहमियत की ओर ध्यान नहीं दिया है।

1784 में भारत आगमन के साथ ही जोंस ने एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की, जो प्राच्यविद्या के अध्ययन में एक विश्वस्तरीय संस्था के रूप में अपने ऐतिहासिक अवदान के लिए जानी जाती है। इस संस्था का संस्कृत, अरबी, फ़ारसी आदि के साहित्य पर शोध और इनकी प्राचीन पाण्डुलिपियों के संरक्षण में अविस्मरणीय योगदान रहा है तथा यह आज भी सक्रिय है। राजेंद्रलाल मित्र जोंस के एशियाटिक सोसायटी की स्थापना के 101 साल बाद 1885 में इसके अध्यक्ष बने। उन्होंने प्राच्यविद्या के अंतर्गत हो रहे यूरोप-केंद्रित विमर्श को ज़बरदस्त चुनौती दी। उन्होने मैक्स वेबर के इस मत का खण्डन किया कि वाल्मीकि की *रामायण* होमर की *इलियड* से प्रभावित हो कर रची गयी। एक ओर से राजेंद्रलाल मित्र ने यह स्वीकार किया कि फ़र्ग्युसन भारतीय शिल्पकला पर सबसे बड़े अधिकारी

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 169

विद्वान् हैं, दूसरी ओर फ़र्ग्युसन की इस धारणा का उन्होंने तीखा प्रतिवाद किया भारतीय कला ग्रीक कला से प्रभावित है और *रामायण* होमर के महाकाव्य पर आधारित है। फ़र्ग्युसन आदि की भारत की कला और शिल्प की परम्पराओं में ग्रीक प्रभाव देखने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य प्रहार करते हुए मित्र कहते हैं :

> सिकंदर तीन सप्ताह पंजाब में क्या रुक गया कि उसने इन लेखकों के मुताबिक़ पुरुषों की पोशाक सिलना, भवनों के लिए ईंट और पत्थर लगाना, वास्तुकला के नियम, अश्वशास्त्र, लेखनकला, नाट्यकला, ज्योतिष, दर्शनशास्त्र, और वे सारी चीज़ें सिखा दीं, जो नंगे बर्बर लोगों को सभ्य बना सकती थीं और फिर तो यह सोचना बहुत ही घातक होगा कि वह भारतीयों के ज्ञान संवर्धन के लिए होमर की किताब की एक प्रति छोड़कर नहीं गया होगा।

वैश्विक संवाद की भूमिका

प्राच्यविद्या के माध्यम से संस्कृत, फारसी और अरबी भाषाओं तथा इनके साहित्य का विश्वसंस्कृति के निर्माण में अद्वितीय योगदान रहा है। प्रकाशन के इतिहास में इंग्लैंड से जो पहली पुस्तक 1477 में छपी, उसका शीर्षक था *द डिक्ट्स ऐंड सेइंग्स ऑफ़ दी फ़िलॉसफ़र्स* और यह अरबी भाषा के मूल ग्रंथ किताब *मुख़्तार अल्हिकम* जिसे मिस्र के एक विद्वान् ने 1053 में तैयार किया था, का रूपांतर थी।

सोलहवीं से बीसवीं शताब्दियों के लगभग चार सौ सालों में उपनिवेशवाद की प्राच्यविद्या के अंतर्गत जो काम हो रहा था,उसकी महत्ता विश्व में पहचानी जा रही थी और इससे संस्कृतियों में संवाद की भूमिका बन रही थी। दाराशिकोह के उपनिषदों के फ़ारसी अनुवाद, उनके भी ग्रीक में दुपेरों के द्वारा किये गये अनुवादों से इस भूमिका को मजबूती प्राप्त हुई। अपने अनेक पूर्वाग्रहों, अधिनायकतावादी दृष्टि और औपनिवेशिक मानसिकता के चलते जोंस आदि पश्चिमी विद्वानों का भी इसमें योगदान था।

जोंस पूर्व और पश्चिम के बीच संवाद के एक माध्यम बने, और उनकी पहल के परिणामस्वरूप भी संस्कृत के पण्डित वैश्विक संवाद के लिए तत्पर हुए। भारत के प्रथम गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स पर इंग्लैंड में मुक़दमा चलाया गया। बचाव पक्ष की ओर से हेस्टिंग्स के शासन को न्यायसंगत ठहराने के लिए उन्हें संस्कृत में दिये गये अभिनंदन पत्रों के अंग्रेज़ी अनुवाद 1796 में प्रस्तुत किये गये। अभिनंदनकर्ताओं में काशी के कृष्णभट्ट आर्डे का भी नाम है। 1801 में बाजीराव पेशवा द्वितीय ने कायस्थ-प्रभु जाति के वर्णविषयक विवाद पर निर्णय देने के लिए काशी के जिन 81 महाराष्ट्रीय पण्डितों की व्यवस्था प्राप्त की उनमें कृष्णभट्ट आर्डे भी एक थे।

अपने जीवन के अंतिम पड़ाव पर आ कर जोंस का झुकाव

राजा राममोहन राय पारम्परिक पण्डितों व आधुनिक संसार के बीच संवाद के एक सार्थक सेतु बन सकते थे, पर वे संवाद की विफलता का दारुण निदर्शन बन गये। पूजा-पाठ व कर्मकाण्डों की खिल्ली उड़ाने के कारण रूढ़िवादी उनसे चिढ़े। ... उन्होंने अपने लेखों और विनिबंधों में इस्लाम और क्रिश्चियन धर्मों के सिद्धांतों का उपनिषदों के चिंतन से साम्य दिखाया और इन धर्मों के प्रवर्तकों को एक मनुष्य के रूप में प्रतिपादित किया, जिसके कारण उन्हें इन दोनों धर्मों के अनुयायियों का भी कोपभाजन ही बनना पड़ा। राय के विरोध में बंगाल के रूढ़िवादी कट्टरपंथी संस्कृतज्ञ समाज ने *वेदांतचंद्रिका* नाम से पुस्तक प्रकाशित की। पुस्तक पर प्रणेता का नाम नहीं था, पर कतिपय अध्येताओं की मान्यता है कि यह पुस्तक राजा कांत देब बहादुर की प्रेरणा से लिखी व छपवाई गयी तथा इसके लेखक स्वयं मृत्युंजय विद्यालंकार थे, जिनसे राय पहले शास्त्राध्ययन करते रहे थे।

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 170

वेदांत की ओर और भी अधिक होता गया था। अपने एक लेख में उन्होंने वेदांत के विश्वबोध की विस्तार से व्याख्या की। जोंस के विचारों से शॉपेनहार प्रभावित हुए और भारतीय प्रज्ञा के साथ विश्व के संवाद की कड़ियाँ जुड़ीं।[3]

जोंस के एक लेख *द वर्ल्ड एज़ विल ऐंड रिप्रज़ेंटेशन* (1819) का संदर्भ देते हुए शॉपेनहार ने वेदांत के दृष्टि-सृष्टिवाद का समर्थन किया। कदाचित् उपनिषदों को ले कर इन दार्शनिकों के उद्‌गारों और उनकी जीवनशैली तथा चिंतन में आये बदलाव का ही प्रभाव था कि केशवचंद्र सेन तथा राजा राममोहन राय जैसे आधुनिक भारत के निर्माता जो ईसाइयत में अपने लिए आधार खोज रहे थे, उपनिषदों की ओर उन्मुख हुए।

जोंस के जर्मन अनुवाद को पढ़ कर गोइथे की चेतना पर कालिदास की भावभूमि व अध्यात्म चेतना का जो प्रभाव हुआ था, वह उनकी मृत्युपर्यंत बना रहा। चालीस साल बाद 1830 में फ्रेंच विद्वान् शेजी ने अपनी *शकुंतला* का संस्करण उनके पास भेजा, जिसके आरम्भ में गोइथे की शकुंतला विषयक कविता मुद्रित थी। गोइथे ने शेजी को उत्तर में लिखा कि इस रचना ने उनके जीवन में नये युग का आरम्भ किया था, और उनके दिन और रात्रियों को इसने अधिक सुहावना बनाया। 1792 में कालिदास के *ऋतुसंहार* का जोंस कृत अनुवाद प्रकाशित हुआ, और 1794 में *मनुस्मृति* का। जोंस का कार्य इसलिए विशेष सराहनीय तथा प्रामाणिक है कि उन्होंने इन सभी ग्रंथों को मूल संस्कृत पाठ के साथ पहली बार प्रकाशित किया।

जोंस ने फ़ारसी और संस्कृत के अंतर्संबंध को गहराई से समझ कर विस्तार से प्रतिपादित किया। उन्होंने यूनान, इटली तथा भारतीय देवमण्डल का तुलनात्मक अध्ययन किया, रोमन देवता जानुस का साम्य गणेश से स्थापित किया, दोनों बुद्धि के देवता हैं। ग्रीक व भारतीय ज्योतिष मूलत: एक था— यह भी उन्होंने साबित किया। विलियम जोंस के पश्चात् हेनरी टामस कोलब्रुक (1765-1837 ई.) का संस्कृत विद्या के अनुशीलन में स्मरणीय अवदान है। कोलब्रुक ने *अ डाइजेस्ट ऑफ़ हिंदू लॉ ऑन कॉन्ट्रैक्ट्स ऐंड सक्सेशंस* नाम से उत्तराधिकार व दायभाग से संबंधित मूलग्रंथों के अपने अनुवादों का संग्रह प्रकाशित कराया।

जोंस, विल्किंस, कोलब्रुक जैसे ब्रितानी प्रशासक-प्राच्यविद्याविदों तथा जर्मनी के संस्कृतज्ञों के अवदान से प्राच्यविद्या विश्व के महासागर में एक ज़बरदस्त लहर की तरह हिलोर ले रही थी। एडगर मिनेट ने इस लहर को 'प्राच्य पुनरुत्थान' कहा, जिसने युरोप को यूनानी और रोम को एक ज़्यादा गहरी और ज़्यादा दार्शनिक और ज़्यादा काव्यात्मक प्राचीनता प्रदान की।

फ्रांस के रेमंड श्वाब ने अपने विश्वकोशात्मक ग्रंथ *ला रिनासाँ ऑरियंताले* में 1765 से 1850 तक विश्व के बौद्धिक जगत् में हुए परिवर्तनों को लक्षित करते हुए कहा है कि इस अवधि में प्राच्य का उन्माद हर कवि, हर लेखक और हर दार्शनिक पर हावी था। उनका यह भी मानना था कि इस भाव ने क्या नौसिखिए क्या व्यवसायी सब के भीतर उन सब चीजों के लिए उत्साह भर दिया था, जो एशिया से जुड़ी हुई थीं, जो एक साथ पारदैशिक, रहस्यमय, गहन और आनंददायक थीं।

जर्मनी के दार्शनिक फ्रीड्रिख़ श्लेगल ने संस्कृत बाद में पढ़ी, उसके पहले ही उन्होंने घोषित कर दिया था कि युरोपवासियों को चाहिए कि अब वे सर्वोत्कृष्ट रूमानी भाव के लिए पूर्व की ओर देखें। श्लेगल ने 1808 में प्रकाशित अपने ग्रंथ में और भी ज़ोर दे कर युरोप को पूर्व से शिक्षा लेने का संदेश दिया। नीरद सी. चौधुरी ने श्लेगल के इस ग्रंथ को भारत के माध्यम से युरोप के नवजागरण का घोषणापत्र ('मैनिफ़ेस्टो ऑफ़ अ न्यू रिनासाँ फ़ॉर युरोप फ्रॉम इंडिया') कहा है।

---

[3] *एशियाटिक रिसर्चेज़* : 164.

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 171

जोंस और मैक्स मुलर जैसे प्राच्यविद्याविदों के कार्यों ने भारतीय विद्वानों को स्फूर्त किया और विचारों के विश्व में भूमण्डलीय चुनौतियों का सामना करने के लिए तत्पर बनाया। कलकत्ता और बम्बई में एशियाटिक सोसाइटियाँ उपनिवेशवादी शासन का अंत होने पर भारतीय विद्वानों के द्वारा बख़ूबी चलाई जाती रहीं। राजेंद्रलाल मित्र ने कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी को नयी दिशा दी, उनके द्वारा सम्पादित *बिब्लियोथिका इंडिका* ग्रंथमाला प्राच्यविद्या में उसी तरह मील का पत्थर है, जिस तरह मैक्स मुलर की *सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट* या काव्यमाला सीरीज।

केजरीवाल का तो यहाँ तक कहना है कि 'एशियाटिक सोसायटी तथा विलियम जोंस, चार्ल्स विल्किंस, एच.टी., कोलब्रुक, एच.एच. विल्सन, जार्ज टर्नर, जेम्स प्रिंसेप तथा अन्य पश्चिमी प्राच्यविद्याविदों के बिना भारत और उसके समृद्ध अतीत के बारे में हमारा ज्ञान आज वह न होता, जो आज है।'[4]

जोंस ने फ़ारसी और संस्कृत के अंतर्संबंध को गहराई से समझ कर विस्तार से प्रतिपादित किया। उन्होंने यूनान, इटली तथा भारतीय देवमण्डल का तुलनात्मक अध्ययन किया, रोमन देवता जानुस का साम्य गणेश से स्थापित किया, दोनों बुद्धि के देवता हैं। ग्रीक व भारतीय ज्योतिष मूलतः एक था— यह भी उन्होंने साबित किया। विलियम जोंस के पश्चात् हेनरी टामस कोलब्रुक (1765–1837 ई.) का संस्कृत विद्या के अनुशीलन में स्मरणीय अवदान है। कोलब्रुक ने *अ डाइजेस्ट ऑफ़ हिंदू लॉ ऑन कॉन्ट्रैक्ट्स ऐंड सक्सेशंस* नाम से उत्तराधिकार व दायभाग से संबंधित मूलग्रंथों के अपने अनुवादों का संग्रह प्रकाशित कराया।

प्राच्यविद्या और भारतीय नवजागरण

जोंस द्वारा चंद्रगुप्त मौर्य की पहचान से भारतीय इतिहास की नयी समझ बन सकी। ग्रीक इतिहासकार प्लूटार्क ने उल्लेख किया है कि सिकंदर तक्षशिला में सैंड्रोकोटस से मिला था। यह घटना 326 ई.पू. की है। विलियम जोंस जब *मुद्राराक्षस* पढ़ रहे थे, तो उनके मन में यह विचार कौंधा कि सैंड्रोकोटस कहीं चंद्रगुप्त तो नहीं। यूनानी इतिहासकारों के सारे उल्लेख सेंट्रोकोटस की राजधानी मगध के पाटलिपुत्र शहर को बता रहे थे, पर वह था कौन? भारतीय इतिहास में उसका उल्लेख क्यों नहीं है— यह रहस्य बना हुआ था। बाद में यूनानी भाषा में सेंट्रोकोटस की एक और वर्तनी दिखी संट्रोकोप्तोस, उससे उनका निर्धारण सम्पुष्ट हुआ।

जोंस जैसे विद्वानों की खोजों से भारत में राजा राममोहन राय आदि अनेक बुद्धिजीवी अपने देश की परम्पराओं को फिर से पहचानने के लिए उत्प्रेरित हुए। दूसरी ओर पश्चिमी विद्वानों की अहम्मन्यता, भारतीयों से उनकी दूरी और देशी लोगों के प्रति उनकी हिक़ारत ने इस देश के बुद्धिजीवियों, संतों और महापुरुषों के भीतर आत्मान्वेषण और आत्मदीप्ति को जागृत किया। इसके परिणामस्वरूप स्वदेशी और स्वराज को बल मिला। कॉफ़ का कहना है कि प्राच्यविद्या के अंतर्गत युरोपीय विद्वानों द्वारा किये गये अध्ययनों ने बंगाल में पुनर्जागरण की भूमिका रची और प्राचीन गौरवग्रंथों की ओर भारतीयों का ध्यान गया। *दि इंडियन मिरर* (1874) में प्रकाशित एक लेख में कहा गया :

> हमें यह समझना चाहिए कि संस्कृत की धातुओं और प्रत्ययों के अध्ययन में हमारे देश की मुक्ति निहित है। संस्कृत की खोज के कुछ वर्षों के भीतर ही तुलनात्मक विज्ञान में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया। इसके पहले इतने आविष्कार कभी नहीं हुए, और मैक्स मुलर जैसे अधीती विद्वानों के
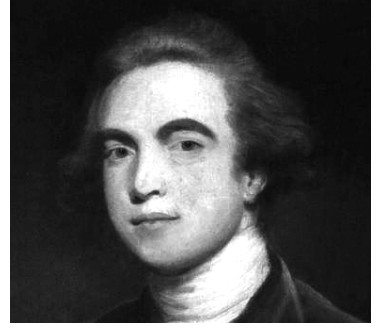
[4] केजरीवाल (1999) : 221.

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 172

चिंतन से संसार में बहुत सारे सत्य खुलते जा रहे हैं। तुलनात्मक मिथकशास्त्र और तुलनात्मक धर्म दुनिया के सामने अब आ चुके हैं।

दि इंडियन मिरर राष्ट्रीय चेतना का संवाहक तथा लोकप्रिय दैनिक था। इसमें भारतीय नवजागरण का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए कहा गया : 'कुछ समय तक इन्हीं अंग्रेजों के लिए हम लोग काले जंगली थे, आज हम उनके लिए भाई हैं, तो इसकी वजह यह है कि सर विलियम जैसे पण्डितजनों ने इस बात को समझा कि हमारे देश का स्थान संस्कृति की दृष्टि से दुनिया के किसी भी देश से ऊपर है तथा आधुनिक सभ्यता का मूल उद्‌गम हमारा देश ही है।'

चार्ल्स विल्किंस, विलियम जोंस, नथैनिएल हालहेड आदि ने संस्कृत विद्या की जिस निधि को सामने रखा, उससे भारतीयों के बीच पुनरुत्थानवादियों की एक जमात पैदा हुई जो ख़ुद को हीन समझने वाली दब्बू भारतीयों की वृत्ति के विपरीत अपनी संस्कृति और पुरानी थाती पर गर्व करने के मामले में अति के दूसरे छोर पर पहुँच गयी थी। पर इस पुनरुत्थानवादी मनोवृति की उन्नीसवीं शती के नवजागरण में महती भूमिका रही है। उसके माध्यम से भारत की अस्मिता के अन्वेषण की प्रक्रिया तेज़ हुई और हमारे चिंतन ने नयी करवटें ली।

वस्तुत: भारत में नवजागरण को एक प्रभावी आंदोलन के रूप में खड़ा करने में प्राच्यवाद का सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरीक़ों से योगदान रहा। सकारात्मक इस दृष्टि से कि विलियम जोंस और मैक्समूलर जैसे अध्येताओं के विवेचन से भारत का बुद्धिजीवी पुन:स्फूर्त हुआ। नकारात्मक इस दृष्टि से कि प्राच्यवाद में इस देश के लोगों और यहाँ की परम्पराओं को अजनबी और हास्यास्पद रूप में प्रस्तुत करने की कहीं-कहीं जो चेष्टाएँ हुईं, उनकी चुनौती का सामना करने के लिए भी भारत ने अपनी अस्मिता को फिर से खोजने का उपक्रम किया। कॉफ़ ने 1773 से 1835 तक की अवधि को प्राच्यवादियों का युग माना। इस काल में सांस्कृतिक समन्वय की एक प्रक्रिया घटित हुई, जिसमें शासक और शासित दोनों को प्रभावित किया। यह परिदृश्य मैकॉले के आगमन से बदला।

दोहरा तनाव

जोंस और मैक्स मुलर जैसे विद्वान दोहरे तनाव से गुज़रे। एक ओर भारत और उसकी संस्कृति तथा साहित्य की गरिमा, प्राचीनता और गहनता का अनुभव, दूसरी ओर युरोपीय अहम्मन्यता से भरी उपनिवेशिक मानसिकता के साथ समझौता करने की विवशता।

औपनिवेशिक दौर में ही प्राच्यविद्या उपनिवेशवाद की सहचरी भी बनी, और कहीं-कहीं उससे छिटक कर उसी की जड़ भी खोदने लगी। ऐसा इसलिए हुआ कि विद्या की साधना में जैसे-जैसे झूठ उजागर होता जाता है, दमनकारी शक्तियाँ उससे घबराने लगती है। प्राच्यविद्या के विलियम जोंस और मैक्स मुलर जैसे साधक उपनिवेशवाद के साथ थे, पर सत्य से मुँह नहीं मोड़ सकते थे।

ऋग्वेद के सम्पादन व प्रकाशन का काम पूरा होते ही मैक्स मुलर ने *द सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट* शीर्षक से संस्कृत और पालि के प्राचीन दुर्लभ ग्रंथों की एक श्रृंखला के सम्पादन और प्रकाशन का काम आरम्भ कर दिया। यह पुस्तक श्रृंखला आज भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण बनी हुई है, जितनी डेढ़ सौ साल पहले थी और इसके पचास खण्ड आज भी संदर्भ योग्य बने हुए हैं। इस श्रृंखला में उनके स्वयं के उपनिषदों व *धम्मपद* जैसे बौद्ध धर्म के ग्रंथों के अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुए। वैदिक संहिताओं के अनेक महत्त्वपूर्ण सूक्तों व *गृह्सूत्र* के भी उनके अनुवाद इस श्रृंखला में पहली बार छपे।

मैक्स मुलर की *सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट* श्रृंखला की इस योजना ने इंग्लैंड के दम्भ को झकझोर दिया था। उनका ऑक्सफ़र्ड में ज़बरदस्त विरोध इसीलिए हुआ कि संकीर्णमति लोगों ने उनके कार्य को भारत के धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता साबित करने वाला और मसीही धर्म तथा संस्कृति पर आघात करने वाला मान लिया था । ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर के पद के लिए मैक्स मुलर

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 173

उम्मीदवार थे, उनका इस पद पर चयन न करके मोनियर विलियम्स जैसे पिद्दी पण्डित का चयन इस आधार पर किया गया कि मोनियर विलियम्स की संस्कृत-अंग्रेज़ी डिक्शनरी मसीही धर्म के प्रचार में सहायक होगी, मैक्स मुलर के किये से तो यह न होगा। मैकाले ने तो अपनी शिक्षानीति के दस्तावेज़ में जोंस और मैक्स मुलर की भारत की महत्ता बताने के उद्यम की खिल्ली उड़ाई ही।

1817 में मिल की *हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया* किताब आयी, जिसमें हिंदुस्तान के लोगों को असभ्य और मूर्ख साबित किया गया था। मैक्स मुलर ने इसे दुर्भाग्यपूर्ण बताया। इसके बाद ही मैकाले की शिक्षा-नीति आ गयी। मैक्स मुलर इस शिक्षा-नीति के विरोध में भी खड़े हुए। वे धारा के विरुद्ध इंग्लैंड में प्राच्यभाषाओं की पढ़ाई की वकालत करते रहे, और मिल के इतिहास और मैकाले की शिक्षा-नीति से जन्म लेने वाले विषाणुओं को दूर करने का भरसक प्रयास करते रहे, जिसकी एक परिणति *इंडिया : व्हाट इट कैन टीच अस* शीर्षक पुस्तक में हुई। 1882 में छपी यह पुस्तक उनके द्वारा भारत में सेवा के लिए जाने वाले भावी प्रशासनिक अधिकारियों के लिए दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। उस समय की प्रचलित ग़लत अवधारणाओं को तोड़ते हुए भारत की मनीषा का सही परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने की दृष्टि से मैक्स मुलर की यह किताब आज तक प्रासंगिक है। दूसरी ओर, मैक्स मुलर भारतीय भाषाओं की शिक्षा के लिए ओरियंटल स्कूल खोलने की एक बड़ी योजना के लिए प्रयासरत थे। भारतीयों को भारतीय भाषाएँ पढ़ाई जाएँ — इसके लिए भी वे प्रयासरत रहे।

यद्यपि मैक्स मुलर ने *सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट* जैसी सीरीज का विरोध करने वालों की प्रतिक्रिया में तथा अपनी अकादमिक ईमानदारी के तहत एक बार यह भी लिखा कि जिन ब्राह्मण ग्रंथों का सम्पादन उन्होंने इस शृंखला में किया है, उनमें अनर्गल लगने वाली बातें भरी हुई हैं, पर उन्हीं में वे मज़बूत पत्थर भी हैं जिन पर मानव सभ्यता के इतिहास की इमारत टिकी हुई है। पर इसके साथ उन्होंने यह भी खुलकर कहा था :

इस विश्व में सब कुछ न्याय, सत्य और पूर्णता की ओर अग्रसर है, पर यहाँ पूर्णन्याय, पूर्णसत्य और समग्र कुछ भी नहीं है— यह बात ईसाई धर्म पर भी लागू होती है, या जिसे आज हम ईसाई परम्परा समझते हैं उस पर भी लागू होती है जब तक कि वह अन्य धर्मों के नकारने पर आमादा है, बजाय इसके कि उनमें जो कुछ अच्छा और ग्राह्य है, उसे वह स्वीकार करे।

अलबिरूनी और *दबिस्ताने मज़ाहिब* का अज्ञात लेखक दोनों यह समझ रहे थे कि भारतीय मेधा केवल कथित धार्मिक चेतना या आध्यात्मिकता में ही चुक कर नहीं रह जाती, उसमें तर्क, बहस, वैज्ञानिक चिंतन के लिए जगह है। ब्रिटिश सत्ता के हित में होने वाले प्राच्यविद्या के अध्ययनों में इस धार्मिक चेतना या आध्यात्मिकता को सिकोड़ते हुए इस देश की वैज्ञानिक अन्वेषण और तार्किक सोच की परम्पराओं को दरकिनार करते हुए हिंदू धर्म की एक अवधारणा गढ़ी गयी, जो रिलीजन या मज़हब की पश्चिमी अवधारणा से मेल खाती थी, जिसमें केवल एक ग्रंथ (वेद) एक परमसत्ता और एक मत के लिए गुंजाइश बनती थी।

जे.आर. बेलेंटाइन (1813-1864) बनारस संस्कृत कॉलेज के 1846-61 की अवधि में अध्यक्ष रहे। उन्होंने संस्कृत व्याकरण पर पुस्तक की रचना की, सांख्यसूत्रों तथा *वेदांतसार* का अंग्रेज़ी अनुवाद किया। भारत से लौट कर इंडिया ऑफ़िस लाइब्रेरी के अध्यक्ष रहे। बेलेंटाइन ने बाइबिल के अनेक अंशों का संस्कृत अनुवाद प्रकाशित करके पण्डितों को उकसाया कि वे अपने शास्त्रों के आधार पर क्रिश्चियन धर्मग्रंथों की प्रामाणिकता की मीमांसा करें। उनकी पुस्तक *क्रिश्चियनिटी कंट्रास्टेड विद*

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 174

हिंदू फ़िलॉसॅफ़ी ने भी पण्डितों के बीच खलबली मचा दी थी। बेलेंटाइन को कट्टर ईसाइयों का भी कोपभाजन बनना पड़ा क्योंकि उन्होंने ईसाई ईश्वर की वेदांत के निर्गुण ब्रह्म से तुलना करने का साहस किया था। विचलित हो कर बेलेंटाइन ने काशी के जाने माने पण्डितों से इस विषय पर अभिमत या व्यवस्था देने का अनुरोध किया। उनके अनुरोध पर विट्ठल शास्त्री और बापूदेव शास्त्री जैसे पण्डितों के साथ काशी के सोलह पण्डितों ने हस्ताक्षर करके जो व्यवस्था दी, उसे बेलेंटाइन ने *बाइबिल फ़ॉर पण्डित्स* नामक अपनी पुस्तक में प्रकाशित किया। बनारस संस्कृत कॉलेज में बेलेंटाइन के ही प्रशासन के दौरान पण्डितों के बीच अरस्तू के सत्ता-विमर्श पर एक परिसंवाद का आयोजन हुआ। बेलेंटाइन ने बेकन के ग्रंथ *नॉवम ऑर्गेनम* का संस्कृत में अनुवाद किया, साथ ही उन्होंने *न्यायकौमुदी* नाम से शास्त्रीय शैली में न्याय का एक नया ग्रंथ भी तैयार किया। एफ़.ई. हाल 1851 में, जब बेलेंटाइन संस्कृत महाविद्यालय के अध्यक्ष थे, तब उस संस्था में सहायक प्राचार्य रहे। इन्होंने नीलकंठ शास्त्री गोरे द्वारा लिखित भारतीय दर्शन के खण्डनपरक ग्रंथ *षड्दर्शनदर्पण* का अंग्रेजी अनुवाद किया तथा *दशरूपक* का सम्पादन किया।

राजा राममोहन राय पारम्परिक पण्डितों व आधुनिक संसार के बीच संवाद के एक सार्थक सेतु बन सकते थे, पर वे संवाद की विफलता का दारुण निदर्शन बन गये। पूजा-पाठ व कर्मकाण्डों की खिल्ली उड़ाने के कारण रूढ़िवादी उनसे चिढ़े। दूसरी ओर बंगला और संस्कृत के साथ अरबी, फ़ारसी व अंग्रेज़ी पर भी राय का अच्छा अधिकार था, उन्होंने अपने लेखों और विनिबंधों में इस्लाम और क्रिश्चियन धर्मों के सिद्धांतों का उपनिषदों के चिंतन से साम्य दिखाया और इन धर्मों के प्रवर्तकों को एक मनुष्य के रूप में प्रतिपादित किया, जिसके कारण उन्हें इन दोनों धर्मों के अनुयायियों का भी कोपभाजन ही बनना पड़ा। राय के विरोध में बंगाल के रूढ़िवादी कट्टरपंथी संस्कृतज्ञ समाज ने *वेदांतचंद्रिका* नाम से पुस्तक प्रकाशित की। पुस्तक पर प्रणेता का नाम नहीं था, पर कतिपय अध्येताओं की मान्यता है कि यह पुस्तक राजा कांत देब बहादुर की प्रेरणा से लिखी व छपवाई गयी तथा इसके लेखक स्वयं मृत्युंजय विद्यालंकार थे, जिनसे राय पहले शास्त्राध्ययन करते रहे थे। इतने से ही संतुष्ट न हो कर कथित पण्डितों ने *ऐन अपॉलॅजी फ़ॉर दि प्रजेंट स्टेट ऑफ़ हिंदू वर्शिप* नाम से इस पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद भी प्रकाशित कराया। *भट्टाचार्ज साहित बिचार* नामक पुस्तक में राय ने *वेदांतचंद्रिका* का मुँहतोड़ जवाब देने की कोशिश की।

एक ओर तो बंगाल का रूढ़िवादी पण्डित समाज राय के विषय में यह प्रवाद फैलाता रहा कि वे क्रिश्चियन हैं या हो जाएँगे, दूसरी ओर राय अपने लेखन में क्रिश्चियन धर्मोपदेशकों को उपनिषदों के अपने अध्ययन के आधार पर यह बताना चाह रहे थे कि उनके धर्म के उपदेशों का निचोड़ उपनिषदों में बहुत पहले प्रस्तुत हो चुका है। अंग्रेजी सरकार का भी उन्होंने हिंदुओं के धर्मशास्त्रीय विधानों में हस्तक्षेप के लिए विरोध किया तथा *ब्रीफ़ रिमार्क्स रिगार्डिंग मॉडर्न एनक्रोचमेंट्स ऑन दि ऐंशेंट राइट्स ऑफ़ फ़ीमेल्स : अकोर्डिंग टू हिंदू लॉ ऑफ़ इंहेरिटेंस (1822)* नामक अपनी पुस्तिका में उन्होंने सप्रमाण साबित किया कि विदेशी शासन द्वारा किस प्रकार धर्मशास्त्र में मान्य व्यवस्थाओं का उल्लंघन करके हिंदू स्त्रियों के दायविषयक अधिकारों का हनन हो रहा है।

राय के संवाद के सारे प्रयास वाद और विवाद में परिणत होते गये। फिर भी वे संवाद के सातत्य के लिए निरंतर प्रयासरत रहे, और दाराशिकोह के पश्चात् उपनिषदों के अंग्रेज़ी अनुवाद का उन्होंने एक और महत् अनुष्ठान किया।

जोंस ने वर्जिल के *एनीड* की तर्ज़ पर उन्होंने बारह खण्डों का एक बृहद् महाकाव्य *ब्रिटेन डिस्कवर्ड* की योजना बना रखी थी, जिसके कुछ अंश ही वे लिख सके। सुनीति कुमार चटर्जी के दिये गये विवरण के अनुसार जोंस की मृत्यु के बाद मिले इस असमाप्त विराट् महाकाव्य के उपलब्ध अंश में दूसरे खण्ड में भारत के देवता अंग्रेजों के भारत आगमन के पूर्व सभा बुलाते हैं, गंगा आशंका

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 175

प्रकट करती है कि विदेशी लोग उसके जल को प्रदूषित कर देंगे, वे इस देश के धर्म और संस्कृति को अपमानित करेंगे।

जोंस अपना यह महत्त्वाकांक्षी महाकाव्य पूरा कर पाते, तो शायद इसका वे एक सद्भावना पूर्ण समापन इस आशा के साथ करते कि परमात्मा ने अंग्रेज़ जाति को इस देश के भले के लिए भेजा है, और उनके राज्य में इसका परम कल्याण होगा। उनके समकालीनों में राजा राममोहन राय आदि की धारणा भी लगभग यही थी।

यह सत्य है कि विलियम जोंस, चार्ल्स विल्किंस, कोलब्रुक जैसे मनस्वी प्राच्यविद्याविदों का सारा अध्ययन, अन्वेषण और विमर्श एक हद तक औपनिवेशिक स्वार्थ से जुड़ा था। विलियम जोंस ने पण्डितों की सराहना भी की, पण्डितों की सहायता भी खूब ली। पर जोंस एक प्रशासक थे। कलकत्ता के उच्च न्यायालय में काम करते-करते उन्हें पण्डितों से चिढ़ हो चली थी। भारतीयों के बारे में उनके ख़याल ग़ौरतलब हैं। वे कहते हैं : 'ये लोग आज़ादी देने लायक़ हैं ही नहीं, इन्हें उसकी समझ भी नहीं है। जो इसे समझते हैं, वे भी इसे चाहते नहीं हैं। (यह अच्छी बात नहीं है, मैं इसकी निंदा करता हूँ, पर मैं इसकी ज़रूरत भी समझता हूँ।) इन लोगों को परम एकसत्तात्मक प्रभुता के द्वारा ही शासित किया जाना चाहिए। मुझे इस तथ्य से दर्द भी होता है, जब मैं इन लोगों को जानता पहचानता और परखता हूँ कि ये लोग दिल्ली के सुल्तानों या क्षुद्र राजों से शासित होने की बजाय हम से शासित होने में ज़्यादा सुखी रहते हैं।'

औपनिवेशिक काल में जिस प्राच्यविद्या का पश्चिमी मूल के विद्वानों तथा उनके अनुकरण में भारतीय विद्वानों ने भी अभ्यास किया, उसने न केवल भारतीय समाज में दीवारें और खाँचे बनाए, प्राच्यविद्या की उस स्वस्थ सहज प्रक्रिया को भी छेंक लिया, जो ह्वेनसांग, अलबिरूनी, अकबर या दाराशिकोह के अवदान से विकसित हो रही थी।

पर यह भी उतना ही सत्य है कि प्राच्यविद्या ने उसके अभ्यासकर्ता युरोपीय विद्वानों को भीतर से बदल दिया था। जीवन के अंतिम वर्षों में मैक्स मुलर अपनी यह दुराशा छोड़ चुके थे कि इस धरती के उद्धार के लिए यहाँ की सारी मानवजाति को मसीही धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए और धर्मों की बराबरी को ले कर उनके अनेक कथन कट्टरपंथी ईसाइयों को बुरे लग रहे थे। यह कहना कठिन है कि जोंस कुछ वर्ष ही और जीवित रह पाते, तो किसकी विजय होती— उनके भीतर के उपनिवेशवादी प्रशासक की या उनके भीतर के सच्चे विद्या-साधक की?

औपनिवेशिकता और वि-उपनिवेशीकरण

औपनिवेशिक दौर में युरोप से आये हुए अनेक अध्येता ऐसे भी थे, जो उपनिवेशवादी दुराग्रहों से मुक्त थे। वे जिज्ञासु बन कर पूर्व के साहित्य तथा संस्कृति को समझना चाहते थे। राल्फ़ टॉमस ग्रिफ़िथ की शिक्षा-दीक्षा वेस्टमिंस्टर स्कूल तथा मींस कॉलेज, ऑक्सफ़र्ड में हुई। ये 1854 से 1862 तक काशी के संस्कृत महाविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक और 1861 से 1878 तक प्राचार्य रहे। पश्चिमोत्तर प्रांत के 1878 से 1885 तक पश्चिमोत्तर प्रांत के शिक्षा निदेशक रहे। *ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, अथर्ववेद, वाल्मीकि रामायण* तथा *कुमारसम्भव* आदि के अंग्रेज़ी अनुवाद करके इन्होंने चिरस्मरणीय कार्य किया। इनके प्रयास से *काशीविद्यासुधानिधि* (दि पण्डित) पत्रिका आरम्भ हुई तथा आठ वर्षों तक इन्होंने उसका सम्पादन भी किया। ग्रिफ़िथ के अनुवादों के बारे में विवाद हो सकते हैं कि वे दुरुस्त नहीं हैं, यह बात किस अनुवादक के लिए लागू नहीं होती? पर ग्रिफ़िथ की ईमानदारी पर तो शक नहीं

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 176

किया जा सकता। ग्रिफ़िथ जैसे विद्वान् ब्रिटिश शासन की सेवा में रह कर भी उपनिवेशवाद की सीमाओं को तोड़ सके।

थीबो मूलत: जर्मन थे, हाइडेलबर्ग तथा जर्मनी के विश्वविद्यालयों में अध्ययन करके ये इंग्लैंड आये जहाँ उन्होंने मैक्स मुलर के सहायक के रूप में कार्य किया। और 1879 से 1888 तक काशी के संस्कृत कॉलेज में प्राचार्य रहे। इन्होंने पण्डित सुधाकर द्विवेदी के साथ *पंचसिद्धांतिका* सहित अनेक ज्योतिष विषयक ग्रंथों का सम्पादन किया, तथा ब्रह्मसूत्र के *शांकरभाष्य* व *रामानुज भाष्य* तथा मीमांसा दर्शन के ग्रंथ *अर्थसंग्रह* का अंग्रेज़ी अनुवाद किया। 1888 में काशी के कॉलेज से सेवानिवृत्त हो कर ये इलाहाबाद के म्यूर सेंट्रल कॉलेज के प्राचार्य हुए, जहाँ उन्होंने 1895 तक कार्य किया। गंगानाथ झा से इनकी बड़ी घनिष्ठता रही। दोनों ने मिल कर दर्शन विषयक अनेक संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद किये, जो *इंडियन थॉट* नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए।

मसीही धर्म के प्रचार के लिए उत्कट मिशनरी उत्साह और संस्कृत की शास्त्र-परम्परा के प्रति अनुराग इन दो कश्तियों पर सवारी करने वाले विद्वानों में जॉन म्यूर एक उल्लेखनीय नाम है। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा संस्थापित हेलीबरी के महाविद्यालय में भारतीय इतिहास व प्रशासन का प्रशिक्षण प्राप्त करके 1828 में आईसीएस अधिकारी के रूप में भारत आये तथा 1853 तक यहाँ रहे। एक वर्ष इन्होंने विलियम कैरी से कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज में बांग्ला भाषा सीखी। तदनंतर संस्कृत भाषा का अध्ययन किया। संस्कृत गद्य व पद्य रचना में ये दक्ष थे। इलाहाबाद में बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू के सचिव तथा आज़मगढ़ में कलेक्टर के रूप में कार्य किया और 1844-45 में संस्कृत कॉलेज के अध्यक्ष रहे। 3 जून, 1844 को इस महाविद्यालय के लिए इन्होंने संस्कृत में एक स्वरचित पद्यबद्ध आदेश निकाला था।

म्यूर ने अंग्रेज़ जाति के इतिहास पर संस्कृत में *नूत्नोदंतोत्स:* (नूत्न-उदंत-उत्स:) नामक ग्रंथ लिखा, जिसका अन्य नाम *इङ्गलैंडायदेशरीतिवर्णनम्* अर्थात् इंग्लैंड नामक देश की रीतियों का वर्णन था। उन्होंने पण्डितों को झिंझोड़ते हुए ईसाई धर्मप्रचार की भावना से संस्कृत में *मतपरीक्षा* नामक खण्डन ग्रंथ का प्रणयन किया।

म्यूर ने *इतिहासतमोमणि:, निस्तारमार्गदीपिका, ईशुखृष्टमाहात्य, पापमोचनम्, यथार्थेपापदर्शनम्, परमात्मस्तव:, ईश्वरोक्तशास्त्रधारा* आदि अनेक परिचयात्मक पुस्तकें संस्कृत में लिखीं। इससे खिन्न तथा उत्तेजित होकर संस्कृत के अनेक पण्डितों ने विल्सन, केरीयाम्यूर जैसे अंग्रेज़ विद्वानों के इस प्रकार के साहित्य के खण्डन में लेखनी उठायी। खण्डनात्मक लेखन करने वाले पण्डित थे— नीलकंठ गोरे, हरचंद्र तर्कपंचानन, सोमनाथ पण्डित आदि। इनमें नीलकंठ गोरे प्रारम्भ में ईसाई विद्वानों के द्वारा किये जा रहे इस धर्मप्रचार के विरुद्ध थे, बाद में वे स्वयं ईसाई हो गये।

पर म्यूर संस्कृत माध्यम से संस्कृतशास्त्रों के अध्यापन के हिमायती थे। इन्होंने संस्कृत में ईश्वरवाद पर ग्रंथ लिखने के लिए पचास रुपये के पुरस्कार की घोषणा की। सेवानिवृत्त होकर ये स्कॉटलैंड के एडिनबरा शहर में रहे, और वहाँ विश्वविद्यालय में संस्कृत चेयर की स्थापना की। यहीं रह कर बारह वर्षों तक परिश्रम करके उन्होंने पाँच खण्डों में विशाल ग्रंथ *ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स ऑन दि हिस्ट्री ऑफ़ दि पीपुल ऑफ़ इंडिया* प्रकाशित किया, जिसमें संस्कृत ग्रंथों के मूल पाठ अंग्रेज़ी अनुवाद सहित संकलित हैं। म्यूर का सेवानिवृत्ति के बाद का यह काम कदाचित् उपनिवेशवादी मानसिकता के चोले को उतारने और मसीही श्रेष्ठता के धार्मिक उत्साह से भी निवृत्त होने का एक यत्न कहा जा सकता है।

लेंसलाट विल्किसन भोपाल के निकट सीहोर नामक छोटे से शहर में न्यायाधीश रहे। उन्होंने यहाँ एक संस्कृत पाठशाला की नींव डाली। उन्होंने *सूर्यसिद्धांत* पर भी काम किया। पण्डित बापूदेव शास्त्री इनके सहायक रहे। विल्किसन ने सीहोर में वर्णव्यवस्था को ले कर एक शास्त्रसभा का आयोजन कराया। इसमें अश्वघोष के *वज्रसूची* नामक ग्रंथ के खण्डन में एक पुस्तक का प्रणयन किया गया।

उपनिवेशिक दौर में पश्चिमी मूल के कतिपय संस्कृत विद्वान् ऐसे भी थे, जो भारत को अपनी कर्मभूमि मान कर यहीं बस गये। इनके मानस में उपनिवेशवादी आधिपत्य का संस्कार नहीं रहा। इनमें आर्थर वेनिस का नाम लिया जा सकता है। इनके पिता ई.जे. लाजरस काशी में चिकित्सक थे। आर्थर वेनिस काशी में ही जन्मे और अध्ययन के लिए ऑक्सफ़र्ड में बिताए कुछ समय को छोड़ कर आजीवन यहीं रहे। वे 1888 से 1918 तक तीस वर्ष काशी के संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य रहे। काशी के अनेक पण्डित इनके लिए गुरुतुल्य थे, ये स्वयं बहुत विनम्र थे, उन पण्डितों के भी निस्संकोच सबके सामने चरण स्पर्श कर लेते थे, जो महाविद्यालय में इनके मातहत थे, पर इनके अध्यापक रहे थे। गोपीनाथ कविराज इन्हें अपना मानसपुत्र मानते थे, इनके कारण कलकत्ता विश्वविद्यालय में साग्रह आमंत्रित किये जाने पर भी काशी छोड़ कर नहीं गये। वेनिस ने भारतीय दर्शन के *मीमांसापरिभाषा* तथा *वेदांतमुक्तावली* जैसे प्रामाणिक ग्रंथों के संस्कृत से अंग्रेज़ी में विस्तृत टिप्पणियों के साथ अंग्रेज़ी अनुवाद किये।

प्राच्यविद्या वाद, विवाद और संवाद का माध्यम

प्राच्यविद्या पूर्व और पश्चिम के बीच कहीं सेतु बनी, कहीं दोनों के गहरे संघर्ष व द्वंद्व का माध्यम भी। शॉपेनहार और हीगेल भारतीय प्रज्ञा की पश्चिमी मीमांसा के दो ध्रुव हैं। इन्हीं दोनों के बीच से संस्कृत, भारतीय मनीषा को ले कर उठाई गयी उपपत्तियों व अनुपत्तियों की महती प्रस्तावना बनती है।

ऋग्वेद के शेष खण्ड 1849 से 1875 के बीच छपे। दूसरे संस्करण के चार खण्ड 1880 से 1892 के बीच छपे। नीरद सी. चौधुरी ने मैक्स मुलर की अपनी जीवनी में पुणे के वेदपाठी ब्राह्मणों द्वारा मैक्स मुलर की छपी पोथी से अपनी अपनी पोथियों का मिलान कर अपनी पोथियों को शुद्ध करने के लिए बुलाई गयी एक धर्मसभा का ज़िक्र किया है। वेदपाठियों के बीच यह ग़लत दुष्प्रचार किया गया था कि मैक्स मुलर की पुस्तक की छपाई में जो स्याही लगी है, उसमें गाय का ख़ून मिला हुआ है। एक तो कथित रूप से गाय के ख़ून से छपी, फिर एक म्लेच्छ के द्वारा सम्पादित और संशोधित ऐसी पुस्तक को वे छू भी कैसे सकते थे? पर यह बात वे विद्वान् वेदपाठी भी समझ रहे थे कि उनकी हस्तलिखित पोथियों में अशुद्धियाँ हैं, और विदेशी म्लेच्छ पण्डित ने जो किताब बनाई है उसमें पाठ शुद्ध हैं। तब पाठशोधन भी हो जाए, और म्लेच्छ की बनाई पुस्तक छूने का पाप भी न लगे, इसके लिए यह उपाय सोचा गया कि एक अन्य जाति के पण्डित को मैक्स मुलर द्वारा प्रकाशित पुस्तक दी जाए, वह पुस्तक को पढ़ता जाए, और सारे पण्डित अपनी-अपनी हस्तलिखित पोथियों में पाठ का मिलान करके अपने पाठ सुधार लें। नीरद सी. चौधुरी बताते हैं कि ऋग्वेद के तीन खण्डों के सामने आ जाने के बाद मार्टिन हॉग ने पत्र लिख कर पूना में वेदपाठियों की इस बड़ी सभा के आयोजन की जानकारी मैक्स मुलर को दी थी। सभा के अंत में वेदपाठियों का निष्कर्ष था कि ऋग्वेद का इस तरह का संस्करण कोई ऐसा बड़ा पण्डित ही बना सकता है, जो वेदों और शास्त्रों का पक्का जानकार हो। भवानीशंकर त्रिवेदी ने *मोक्षमूलरवैदुष्यम्* नामक अपने नाटक में वाराणसी में एक विद्वत्सभा का दृश्य अंकित किया है, जिसमें मैक्स मुलर के ऋग्वेद पर काशी के पण्डित विचार कर के उस की प्रामाणिकता को उद्धृत करते हैं। इस प्रसंग की ऐतिहासिकता के लिए कोई प्रमाण त्रिवेदीजी ने नहीं दिया है।

ऋग्वेद के चारों खण्डों के प्रकाशन के बाद पारम्परिक पण्डितों ने फिर से सभा करके मैक्स मुलर के लिए एक धन्यवाद का पत्र तैयार करके भेजा। यह वह समय था जब *ऋग्वेद* पढ़ने के लिए भारत के लोगों को केवल मैक्स मुलर का ही संस्करण सुलभ था। यही कारण था कि पहले संस्करण की प्रतियाँ बहुत जल्दी समाप्त हो गयीं, और दूसरा संस्करण छापने के लिए व्यवसायी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने हाथ खींच लिए, लेकिन भारत में इसके प्रकाशन के लिए सहायता करने वालों की कमी न थी। ऋग्वेद के पहले संस्करण के चार बृहत्काय खण्डों की छपाई के लिए मैक्स मुलर को अपने

शुभचिंतकों की मदद के साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों की चिरौरी विनती करनी पड़ी थी। जब दूसरा संस्करण निकालने का अवसर आया तो विजयनगर के महाराज सर पशुपति आनंद गजपति राय ने इसके लिए चार हज़ार पाउण्ड बिना माँगे सहर्ष भेज दिये।

उन्नीसवीं शताब्दी में विश्व-संस्कृति के निर्माण में इसे एक बड़ी क्रांति कहा जा सकता है कि उपनिषदों के तत्त्वचिंतन, अरब देशों में विकसित सूफ़ी रहस्य बोध की कविता तथा ईसाई संत परम्परा की पारस्परिकता को समझा जाने लगा।

मैक्स मुलर अपने समय के एक बड़े संवादपुरुष थे, उनका विवेकानंद, केशवचंद्र सेन आदि से नहीं, नीलकंठ शास्त्री गोरे और रमा बाई सहित भारत के अनेक संस्कृत पण्डितों से बराबर संवाद बना रहा। मैक्स मुलर के बाद राजाराम शास्त्री बोडस और शिवराम शास्त्री ने ऋग्वेद का पुनः सम्पादन किया, उनके संस्करण का एक आधार मैक्स मुलर का संस्करण था, और कुछ अन्य हस्तलिखित ग्रंथ भी, जो मैक्स मुलर को प्राप्त नहीं हो सके थे। मैक्स मुलर ने ऋग्वेद के अपने नये संस्करण में उनके संस्करण से भी साभार सहायता ली।

विलियम केरी ने बाइबिल का संस्कृत में अनुवाद *धर्मपुस्तकम्* के नाम से कराया। कलकत्ता में बिशप कॉलेज के प्राचार्य डब्ल्यू.एच. मिल ने अनेक ईसाई धर्मग्रंथों के संस्कृत अनुवाद किये। इन्होंने 5000 श्लोकों में *खृष्टसङ्गीतम्* या ईसाई गीता का प्रणयन किया और चर्च में संस्कृत में प्रार्थनाएँ कराने की पद्धति का भी आरम्भ किया।

बंगाल के पारम्परिक पण्डितों में मृत्युंजय विद्यालंकार का नाम यहाँ उल्लेखनीय है। उनका जन्म 1762 में मिदनापुर में हुआ था, वे अपने घर के टोल में छात्रों को पढ़ाते थे। राजा राममोहन राय ने भी उनसे शास्त्रों का अध्ययन किया था। बाद में वे फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में अध्यापक नियुक्त हुए; जहाँ उनकी मित्रता विलियम केरी से हुई। स्वयं केरी उनसे संस्कृत साहित्य का अध्ययन करते रहे। पंद्रह साल तक फ़ोर्ट विलियम में पढ़ाने के बाद मृत्युंजय विद्यालंकार ने समान वेतन न दिये जाने को अपने प्रति अन्याय घोषित करते हुए इस महाविद्यालय की सेवा से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने संस्कृत कोश के निर्माण के अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रंथों का बंगाली में अनुवाद किया और राजा राममोहन राय के पहले सतीप्रथा के विरोध में विनिबंध लिखा, इस विनिबंध का उन्होंने अंग्रेज़ी में भी अनुवाद किया, जो 1819 में *फ्रेंड्स ऑफ़ इंडिया* नामक जर्नल में प्रकाशित हुआ था।

प्रेमचंद तर्कवागीश की 1826 में इक्कीस वर्ष की आयु में संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता में नियुक्ति हुई। ई.बी. कोवेल उनकी योग्यता से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने कृष्णमोहन मलिक से शेक्सपीयर के नाटकों का अध्ययन किया।

1867 में मैक्स मुलर ने *पण्डित* पत्रिका में अपने *ऋग्वेद* के संस्करण के विषय में एक विज्ञापन प्रकाशित कराया। इस विज्ञापन को ले कर काशी के पारम्परिक पण्डितों में तीखी प्रतिक्रिया हुई। पं. शिवप्रसाद ने पण्डित के सम्पादक को विरोध में एक कड़ा पत्र लिखा। प्रमदादास अंग्रेज़ संस्कृतज्ञों के विरुद्ध मुखर थे, यद्यपि उनके ग्रिफ़िथ तथा जेम्स.आर. बेलेंटाइन जैसे पश्चिमी पण्डितों के साथ मधुर संबंध रहे थे। *साहित्यदर्पण* के अंग्रेज़ी में अनुवाद के लिए उन्होंने बेलेंटाइन की मदद भी की थी। वे मैक्स मुलर के विरोध में भी मुखर थे।

पश्चिमी विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित आर्यों के भारत आव्रजन के सिद्धांत की कड़ी आलोचना करने वालों में एक प्रमदादास भी थे। उन्होंने संस्कृत के पाठ्यक्रम में पश्चिमी विद्वानों के विचारों का समावेश करने का भी विरोध किया। जार्ज थीबो मींस कॉलेज के पाठ्यक्रम में नवीनता लाना चाहते थे, जिसमें डॉन म्यूर, मैक्स मुलर, कोलब्रुक आदि प्राच्यविद्या के पश्चिमी विशेषज्ञों के कार्य का अध्ययन पाठ्यचर्चा में समाहित हो सके। प्रमदादास ने उनके इस प्रयास के विरुद्ध एक अभियान छेड़ दिया और *पण्डित* पत्रिका के सम्पादक के नाम पत्र में लिखा कि अभी पश्चिम के विद्वानों को भारतीय

पण्डितों से बहुत कुछ सीखना है और इन विद्वानों का संस्कृत के ग्रंथों का अध्ययन अपरिपक्व है। इस पर थीबो व प्रमदादास जी के बीच संवाद के स्थान पर विवाद पनपने लगा।

श्यामजीकृष्ण वर्मा का जन्म 4 अक्टूबर 1857 के दिन कच्छ के माण्डवी नगर में हुआ। उनके पिता करसन भंसाली मुम्बई में काम करते थे। श्यामजी ने विल्सन महाविद्यालय में अध्ययन किया, इसी समय मुम्बई में दयानंद के आगमन के समय दयानंद उनसे प्रभावित हुए। दयानंद के सान्निध्य में उन्होंने वेदों का अध्ययन किया। 1875 में उनका परिचय मोनियर विलियम्स से हुआ। मोनियर विलियम्स के निमंत्रण पर वे ऑक्सफ़र्ड गये, जहाँ वे सहायक प्राध्यापक नियुक्त हुए। इंग्लैंड में वे हर्बर्ट स्पेंसर से प्रभावित हुए। वर्मा ने ग्रीक का अध्ययन किया, प्राचीन भारत में लिपि की प्राचीनता पर अपना शोधलेख बर्लिन के प्राच्यविद्या सम्मेलन में प्रस्तुत किया। 1885 में वे भारत लौटे। वे रतलाम, जूनागढ़ और उदयपुर में प्रशासनिक पदों पर रहे, फिर देशसेवा के लिए नौकरी छोड़ दी। इसके बाद वे लंदन चले गये, जहाँ उन्होंने इंडियन होमरूल सोसायटी की स्थापना की, इंग्लैंड में पढ़ने वाले भारतीय छात्रों के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था की और साथ में उनसे यह शपथपत्र भी भरवाने लगे कि वे ब्रिटिश सरकार की सेवा नहीं करेंगे। वे सावरकर, हरदयाल, मदनलाल धींगड़ा के सम्पर्क में बराबर बने रहे। उन्हें इंग्लैंड से निष्कासित कर दिया गया, जहाँ से वे पेरिस गये। उनकी मृत्यु स्विट्ज़रलैंड में हुई।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक अंग्रेज़ों के प्रशासनिक और औपनिवेशिक स्वार्थ से जुड़ा प्राच्यविद्या का यह प्रस्थान बेकाम हो चुका था। मैकॉले और मिल जैसे नये युग के नायकों को इसके अंतर्गत किया जाने वाला संस्कृत साहित्य तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति की महत्ता का गुणगान नहीं सुहाया। एच.ए.आर. गिब, जो स्वयं जानेमाने प्राच्यविद्याविद् रहे थे, को कहना पड़ा कि प्राच्य समाज अपने में इतना महिमामय है कि प्राच्यवादियों के हवाले कर देना ग़लत होगा।

औपनिवेशिक प्राच्यविद्या इस देश के लिए वरदान और अभिशाप दोनों बन गयी, उसके सुपरिणाम भी हुए और दुष्परिणाम भी।

औपनिवेशिक प्राच्यविद्या की दुष्परिणतियाँ

औपनिवेशिक दौर में पनपी प्राच्यविद्या ने हमारे देश की तस्वीर बदल दी। भारतीय नवजागरण और सारे देश में नयी चेतना के संचार में भी इसकी भूमिका नगण्य नहीं थी। पर इसी प्राच्यविद्या ने देश को अपूरणीय क्षति भी पहुँचाई, उसमें देश के मानस को बदल दिया। प्राच्यवाद का विखण्डन प्रस्तुत करने वाले सईद आदि भी भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसकी दुष्परिणतियों का सही–सही आकलन नहीं कर सके। चार्ल्स ट्रेवेलियन ने 1838 प्रकाशित अपनी पुस्तक *एजुकेशन ऑफ़ इंडियन पीपुल* में कहा, 'देर अबेर हमें यहाँ से जाना होगा, पर युरोपीयकरण करके, ताकि इस देश से हमारा संवाद क़ायम रहे। युरोपीय तौर तरीक़ों में हम भारतीयों की रुचि विकसित कर सकें।'

क्या हम लोग चार्ल्स ट्रेवेलियन की परिकल्पना का परिणाम हैं?

जो प्राच्यविद्या उपनिवेशवाद की सहचरी बना ली गयी, उसने सत्ता के बल पर पूर्व को परिभाषित करने का उद्यम किया, और उसकी परिभाषाएँ सत्ता के स्वार्थ के कारण सत्य से दूर थीं। विलियम जोंस से लगा कर मैक्स मुलर एक पूरी शताब्दी जो उपनिवेशवादी प्राच्यविद्या का स्वर्णिम काल है, उसमें भारत के स्वर्णिम अतीत और अंधकारमय वर्तमान की एक छवि गढ़ी गयी। औपनिवेशिक प्राच्यविद्या ने भारत के गौरवशाली अतीत की जो उज्ज्वल छवि अंकित की, उसे इस देश की वर्तमान दुर्दशा के व्यतिरेक के रूप में उभारा गया। इस प्रक्रिया में तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक के पाँच सौ–छह सौ वर्षों के काल में भारत की उज्ज्वल उपलब्धियों को अनदेखा किया गया, सुदूर अतीत की स्वर्णिम छवि के आगे हमारे आसन्न अतीत को अंधकार और दासता के युग के अनुरूप

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 180

समझा गया, मुस्लिम शासन को विदेशी आक्रांताओं की बर्बरता के काल के रूप में देखा गया। पश्चिम के प्राच्यविद्याविदों ने हिंदुओं और मुसलमानों में वैमनस्य पैदा करके उन्हें एक-दूसरे के शत्रु बना देने की औपनिवेशिक नीति की विषवल्लरी को खूब सींचा। हमारे मस्तिष्कों में विषाणु की तरह इस विचार को बिठाने का प्रयास किया गया कि वेदों और राम-कृष्ण जैसे अवतारों के स्वर्णयुग के बाद हमारी सभ्यता का पतन होता गया है, और कुछ शताब्दियों तक कथित तुर्कों या मुस्लिम आक्रमणकारियों की दासता में रहकर हम इस क़दर नाक़ाबिल और जाहिल हो चुके हैं कि हमारा उद्धार करने के लिए अंग्रेज़ साहब बहादुर का शासक के रूप में होना हमारे लिए वरदान है।

औपनिवेशिक काल में जिस प्राच्यविद्या का पश्चिमी मूल के विद्वानों तथा उनके अनुकरण में भारतीय विद्वानों ने भी अभ्यास किया, उसने न केवल भारतीय समाज में दीवारें और खाँचे बनाए, प्राच्यविद्या की उस स्वस्थ सहज प्रक्रिया को भी छेंक लिया, जो ह्वेनसांग, अलबिरूनी, अकबर या दाराशिकोह के अवदान से विकसित हो रही थी।

तुर्क और मुसलमान इस देश में आकर बसे, और यहाँ की सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच उन्होंने अपने लिए जगह बना ली। अंग्रेज़ इस देश में अजनबी बने रहे। अपनी सारी अजनबियत के साथ वे उन लोगों के बीच घृणा के बीज बोने में सफल हुए, जिनकी नियति इस देश से बँधी थी, और जो यहाँ के बाशिंदे थे। औपनिवेशिक काल के प्राच्यविद्या के अध्ययनों ने इन बीजों को सींचा।

औपनिवेशिक दौर की प्राच्यविद्या ने भारतीय साहित्य का, विशेष रूप से संस्कृत साहित्य का एकदम ग़लत इतिहास गढ़ा, प्रचारित किया और वही इतिहास कमोबेश आज तक संस्कृत के विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों में पढ़ाया जा रहा है। इन विश्वविद्यालयों से निकले प्रतिष्ठित आचार्य ही नहीं, संस्कृत के पारम्परिक पण्डित तक अपने साहित्य और संस्कृति के बारे में खड़ी की गयी भ्रांत धारणाओं को पोसते आ रहे हैं। एक ग़लत धारणा यह है कि दसवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत में मौलिक साहित्य और चिंतन छीजता गया। पश्चिमी विद्वानों ने माना कि दसवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय मेधा का ह्रास होता गया, मौलिकता का क्षरण हुआ तथा संस्कृत साहित्य में टीकाओं का लेखन अधिक हुआ। पं. बलदेव उपाध्याय ने भी उनकी सरणि पर चलते हुए बारहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक के काल को संस्कृत साहित्य के अपकर्ष का काल माना, जो उचित नहीं है। सत्य यह है कि संस्कृत साहित्य में सबसे ज़्यादा नये प्रयोग दसवीं शताब्दी के बाद हुए, भारतीय भाषाओं में रचे जा रहे साहित्य के सम्पर्क से कथा, नाटक और कविता में नयी विधाएँ विकसित हुईं।

ए.बी. कीथ संस्कृत के एक मेधावी और प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। वे बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में संस्कृत साहित्य के इतिहास और संस्कृत नाटक पर अपनी किताब लिख रहे थे। इसी दशक में भारत में संस्कृत में सौ से ज़्यादा संस्कृत की पत्रिकाएँ छप रही थीं, जिनमें नया साहित्य आ रहा था, *संस्कृतचंद्रिका, विज्ञानचिंतामणि, श्रीः* जैसी पत्रिकाओं में अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ लेख छप रहे थे। स्वयं अंग्रेज़ होने और अंग्रेज़ी शासन के प्रति वफ़ादार होने के कारण कीथ का यह फ़र्ज़ बनता था कि दसवीं शताब्दी से लगाकर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक संस्कृत साहित्य में हुई नयी हलचलों पर मौन धारण करें।

जिस तरह प्राच्यविद्या के समीक्षकों ने ओरिएंटलिज़म शब्द गढ़ा, उसी तरह युरोपीय मानस वाले प्राच्यविद्याविदों ने भारत के धर्म के लिए हिंदुइज़म शब्द गढ़ा। हिंदू शब्द एक भौगोलिकता का वाचक था, इस देश में बस गये मुसलमानों को भी खाड़ी देशों के लोग हिंदू कहते थे। इसी हिंदू को औपनिवेशिक काल की प्राच्यविद्या ने संकीर्ण अर्थ में धर्मविशेष का अनुगामी बना दिया।

पुर्तगाली यात्रियों ने इस देश के लोगों को गेंटू कहा था, वारेन हेस्टिंग्स ने धर्मशास्त्र के ग्रंथों का पण्डितों से *विवादार्णव सेतु* के नाम से जो संकलन तैयार करवाया, उसके फ़ारसी के ज़रिये हुए अंग्रेज़ी अनुवाद में *अ बुक ऑफ़ गेंटू ला* शीर्षक रखा गया। पर बाद में उसके स्थान पर हिंदू लॉ संज्ञा का

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 181

प्रयोग हुआ। मुस्लिम काल में लिखी गयी कुछ कृतियों को छोड़ कर पूरे संस्कृत साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी तक हिंदू शब्द ही कहीं नहीं है। हमारे पुरखों से वेदों के ऋषियों से लगा कर पुराणों के प्रवक्ताओं ने, कवियों ने यह कहीं नहीं कहा कि हम लोग हिंदू हैं। हिंदू शब्द का एक जाति के लिए संस्कृत के किसी ग्रंथ में यदि प्रयोग मिलता है, तो यह *मेरुतंत्र* है। पर इस तंत्र में हिंदू के साथ फिरिंग, इंगेजा, लंडूज जैसे शब्द भी आये हैं, जिससे साफ़ है कि इस तंत्र में वह सारा प्रसंग बहुत बाद में जोड़ा गया है, जहाँ ये शब्द प्रयुक्त हैं।

औपनिवेशिक प्राच्यविद्या ने धर्म की अपवर्जी धारणा को प्रचारित करके इसे बद्धमूल किया। आज़ादी के बाद धर्म की सर्वसमावेशिता को अलग कर के इस अपवर्जी धारणा की जड़ें बराबर सींची जाती रही हैं।

उपनिवेशवादी प्राच्यवाद के अंतर्गत होने वाले अध्ययनों में ही भारतीय समाज के लिए हिंदू शब्द का धड़ल्ले से प्रयोग होने लगा। यह शब्द हमारी ज्ञान-परम्पराओं में नाजायज़ ढंग से इस तरह घुसा दिया गया, जिससे हमारे समाज में अपने आप को ले कर ग़लत छवि निर्मित हुई। हिंदू शब्द का प्रयोग एक मज़हब के लिए करते हुए इसके साथ ही भारतीय ज्ञान-प्रस्थानों में विशेषण के तौर भी इस्तेमाल किया जाता रहा। रसायनशास्त्र और गणित जैसे विषय हिंदू कैमेस्ट्री और हिंदू मेथेमेटिक्स बन गये, जिनका किसी धर्मविशेष, समाज विशेष या जाति विशेष से लेना-देना नहीं था। वात्स्यायन अपने *कामसूत्र* में भले कहते रहें कि उनका शास्त्र सारी मनुष्य जाति के लिए है, पर वेंडी डोनिगर और सुधीर कक्कड़ अपने अंग्रेज़ी अनुवाद में उसे 'हिंदू बुक ऑफ़ सेक्स' ही कहेंगे!

यह सत्य है कि हिंदू शब्द का प्रयोग मूलत: अरब देशों के लोगों ने इस देश के निवासियों के लिए किया, जिसे पुराणों ने भारतवर्ष कहा, पर मुग़लकाल में यह उस समुदाय के लिए इस्तेमाल होने लगा, जिसकी पहचान बहुलतावादी परम्पराओं में थी। इरफ़ान हबीब के अनुसार :

कुछ धार्मिक परम्पराएँ प्राचीन काल से ही चलती आ रही थीं, जिनको मुग़लों के दौर तक हिंदू शब्द से जाना जाता था। एक हिंदू के क्या क्या विश्वास होते हैं— इसे बतलाने में *दबिस्ताने मज़ाहिब* के लेखक को काफ़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा, और आख़िरकार उसने एक बहुत ही सुविधाजनक रुख़ अपनाया, जो अकेला मुमकिन रुख़ भी था— हिंदू वे हैं, जो सदियों से वाद-विवाद के एक ही ढाँचे के भीतर एक-दूसरे के खिलाफ़ बहस करते आ रहे हैं, अगर वे एक-दूसरे को ऐसे व्यक्ति स्वीकार करते हैं, जिनका किसी धार्मिक वाद-विवाद में वे या तो समर्थन करते हैं या विरोध, तो वे दोनों पक्ष हिंदू हैं। औपनिवेशिक प्राच्यविद्या ने हिंदू समाज की इस बहुलतावादी पहचान को समाप्त करने का काम किया।

अलबिरूनी और *दबिस्ताने मज़ाहिब* का अज्ञात लेखक दोनों यह समझ रहे थे कि भारतीय मेधा केवल कथित धार्मिक चेतना या आध्यात्मिकता में ही चुक कर नहीं रह जाती, उसमें तर्क, बहस, वैज्ञानिक चिंतन के लिए जगह है। ब्रिटिश सत्ता के हित में होने वाले प्राच्यविद्या के अध्ययनों में इस धार्मिक चेतना या आध्यात्मिकता को सिकोड़ते हुए इस देश की वैज्ञानिक अन्वेषण और तार्किक सोच की परम्पराओं को दरकिनार करते हुए हिंदू धर्म की एक अवधारणा गढ़ी गयी, जो रिलीजन या मज़हब की पश्चिमी अवधारणा से मेल खाती थी, जिसमें केवल एक ग्रंथ (वेद) एक परमसत्ता और एक मत के लिए गुंजाइश बनती थी। इस संकीर्ण अवधारणा के तहत प्राच्यविद्या ने हमें अपनी आध्यात्मिकता पर गर्व करना सिखाया। गोविंद चंद्र पाण्डेय, यशदेव शल्य और अम्बिकादत्त शर्मा आदि विचारक इसी अवधारणा को ले कर भारत की एक आध्यात्मिक देश के रूप में छवि निर्मित करते हैं। यह निर्मिति अपनी परिणति में एकांगी हो जाती है और यह अपने आप में एक स्तर पर प्राच्यविद्या की औपनिवेशिक सोच से प्रभावित और प्रेरित है। यह भी सत्य है कि हिंदू शब्द इस सोच में बँध कर एक कट्टरपंथ का सहचर बन गया, जिसकी परिणतियाँ देश

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 182

और समाज के लिए घातक होती गयीं, पर दूसरी ओर कतिपय गम्भीर विमर्शों में वह मुक्ति और स्वराज की चेतना से भी जुड़ा। विद्यानिवास मिश्र जैसे विचारकों के लिए हिंदू धर्म जीवन में सनातन की खोज बन गया, गाँधी ने अहिंसा के मार्ग पर चलते हुए सत्य की खोज को हिंदू धर्म कहा।

उपनिवेशवाद के अंतर्गत विकसित प्राच्यविद्या की दुष्परिणतियाँ औपनिवेशिक शासन की समाप्ति होने पर निवृत्त होने की बजाय प्रच्छन्न हो कर अधिक गहराई तक हमारी व्यवस्थाओं, सोच और व्यवहार में समाती गयी हैं। एक ओर अतीत की उज्ज्वल विरासत को ले कर आवश्यकता से अधिक गौरव प्रफुल्लता, जो औपनिवेशिक दौर की प्राच्यविद्या के द्वारा हम पर थोपी गयी है, दूसरी ओर उसी के द्वारा हमें मिला पश्चिम से मुठभेड़ में हमारी वर्तमान सांस्कृतिक पराजय से उपजा हीनता का भाव— इन दो छोरों से बाहर आ कर भारत के प्राच्यविद्याविदों को अब अपना रास्ता खोजना है। पश्चिम की हेकड़ी और दम्भ के चलते यह स्थापित भी करना है कि प्राच्यविद्या वही नहीं है, जो पश्चिम के द्वारा पूर्व के अध्ययनों में सिमटी रहे, पूर्व के द्वारा पूर्व का अपना विमर्श भी प्राच्यविद्या कहे जाने का उतना ही या उससे अधिक हक़दार है।

औपनिवेशिक दौर की प्राच्यविद्या के द्वारा आधुनिक हिंदू मानस में भारत के अतीत पर गौरवान्वित होने का जो भाव उपजाया वह अब राजनीतिक दुर्विनियोजन के साथ कट्टरपंथी हिंदूवाद का रूप ले चुका है। दूसरी ओर पश्चिम के प्राच्यविद्याविदों का अपने अध्ययनों में भी कोई न कोई एजेंडा और पूर्वाग्रह रहता है, आर्य भारत में बाहर से नहीं आये— इस बात के पुख़्ता प्रमाण मिलने लगें, तो वे उनका सही जवाब नहीं दे पाते, आर्यों को भारत का मूलनिवासी मानना गोया प्रतिगामी हिंदूवादी हो जाना हो जाता है। पश्चिमी विद्वानों ने मोहनजोदड़ो अथवा हड़प्पा की संस्कृति को वैदिक संस्कृति से प्राचीनतर माना, तथा दोनों में परस्पर विरोध की कल्पना भी की। अशोक अकलूजकर, भगवान सिंह तथा रामविलास शर्मा आदि के अनुसंधानों से इस मान्यता पर भी प्रश्नचिह्न खड़े हो गये हैं।

पश्चिमी इतिहासकारों व प्राच्यविद्याविदों द्वारा किये गये कार्य से संस्कृत साहित्य के विषय में भी अनेक भ्रांतियाँ निर्मित हुई हैं। प्रख्यात अमेरिकी संस्कृत पण्डित इंगाल्स ने उन्नीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य के पश्चिमी इतिहासकारों या प्राच्यविद्या के विद्वानों द्वारा किये गये कार्य के विषय में कहा है— यदि ये लोग लैटिन या ग्रीक मानदण्डों को चुनकर उनके आधार पर संस्कृत साहित्य की समीक्षा करते, तो भी उनके निष्कर्ष अनुचित ही होते, उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के विक्टोरियाई इंग्लैंड और अमेरिका से समीक्षा के मानदण्ड लिए, उनसे तो उनके निर्णय कई बार अन्यायपूर्ण ही लगते हैं। पश्चिमी प्राच्यविद्यावदों ने संस्कृत साहित्य के विषय में अनेक भ्रांत धारणाएँ प्रचारित कीं, जो दुर्भाग्य से संस्कृत के पाठ्यक्रमों में स्वतंत्र भारत में भी यथावत स्वीकार कर ली गयीं। प्रचलित इतिहास दृष्टि में वैदिक साहित्य को क्रमशः संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्— इन चार वर्गों में बाँट कर उनका ऐतिहासिक कालक्रम निर्धारित कर दिया गया है। यह प्रतिपादन भी पुनर्विचारणीय है। इसी प्रकार वैदिक और लौकिक साहित्य के विभाजन की रेखा इस प्रकार खींची गयी, जैसे वे दो सर्वथा अलग-अलग भाषाओं और परम्पराओं के साहित्य हों। आगम और निगम, वेद तथा पुराण का भी इसी प्रकार पृथक्करण किया गया। संस्कृत में लोकजीवन या सामान्य जनता के संघर्ष और यथार्थ को लेकर प्रचुर साहित्य रचा गया है। पर पूर्वाग्रहों के कारण इस साहित्य की उपेक्षा की गयी। इससे संवाद के स्थान पर विसंवादों का जन्म हुआ।

दूसरी ओर, प्राच्यवाद ने इस देश में विभाजनवादी नीति को उकसाया, इसके तहत काम करने वाले मनीषी विद्वानों ने अपने पूर्वाग्रहों, प्राक्कल्पनाओं तथा एकपक्षीय अध्ययनों के द्वारा जिन निष्पत्तियों को प्रक्षेपित किया, उनसे इस देश के बुद्धिजीवियों, अध्येताओं तथा मध्यवर्गीय भारतीय समाज का एक ऐसा मानस बना, जो राष्ट्र और समाज के लिए हितकर नहीं था।

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 183

प्राच्यविद्या का वर्तमान और भविष्य, समस्याएँ और सम्भावनाएँ

आर्थर वेनिस जैसे अन्य कई लोग अभी तक इस देश में रह रहे हैं, जो विदेशी मूल और युरोपीय मानसिकता को छोड़ कर या तोड़ कर संस्कृत के शास्त्र पढ़ने सीखने के लिए यहीं बस गये। पियरै सिल्वाइन फिलियोजा फ्रांस के प्रख्यात प्राच्यविद्याविद् फिलियोजा के पुत्र हैं। संस्कृत व्याकरण के ये मर्मज्ञ आचार्य हैं। मैसूर के एक पण्डित परिवार में जन्मी वसुंधरा से विवाह करने के बाद इन्होंने मैसूर में ही अपना घर बना लिया है। बैटिना बाउमर आस्ट्रिया के एक विश्वविद्यालय में दर्शन की प्रोफ़ेसर रही हैं, भारत में उन्होंने काश्मीर शैव दर्शन का गहन अध्ययन किया, इस शैव शास्त्र के एक बड़े साधक स्वामी लक्ष्मण जू से दीक्षा ली। वे भारतीय नागरिक बन गयी हैं और वाराणसी में अपना स्वयं का बनाया हुआ प्राच्यविद्या का अध्ययन संस्थान चलाती हैं। इंग्लैंड के मार्क डिस्कोव्स्की ने भी स्वामी लक्ष्मण जू के सान्निध्य में शैवदर्शन तथा तंत्र का अध्ययन किया। ये तंत्र के अनेक ग्रंथ सम्पादित कर चुके हैं, और वाराणसी में रहते हैं। यह सिलसिला इक्कीसवीं सदी में बदस्तूर जारी है। अमेरिका में जन्मे वरुण खन्ना वहाँ की फ़ार्मेसी की किसी कम्पनी की नौकरी छोड़ कर भारत में श्रीमती पुष्पा दीक्षित के सान्निध्य में *अष्टाध्यायी* का अध्ययन करते हैं। लूसी गेस्ट इंग्लैंड में बैंक की अच्छी ख़ासी नौकरी छोड़ कर काशी आकर संस्कृत व्याकरण पढ़ती हैं। काशी में ही निर्धन छात्रों के लिए एक गुरुकुल बना कर वहीं रहती हैं, और सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय से व्याकरण में शोध कर रही हैं। स्पेन की मारिया इसी विश्वविद्यालय में मीमांसा–दर्शन के एक दुरूह और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ *शास्त्रदीपिका* का अध्ययन कर रही हैं, ये भी काशी की एक बेहद तंग गली में बने गुरुकुल में रहती हैं। यतींद्र विमल चौधुरी ने *मुस्लिम पेटर्नेज़ टु संस्कृत* शीर्षक से अपनी ग्रंथमाला के कई खण्डों में भारत के जिस विस्मृत आसन्न अतीत की बड़ी धरोहर को उजागर करने का प्रयत्न किया था, उसे युवा अध्येताओं में प्रतापचंद्र मिश्र आगे बढ़ा रहे हैं। बलराम शुक्ल जैसे विद्वान् फ़ारसी में संस्कृत से और संस्कृत में फ़ारसी साहित्य से किये गये अनुवादों के सिलसिले पर शोध कर रहे हैं। इससे प्राच्यविद्या का एक ऐसे स्वरूप सामने आने की सम्भावना बन सकती है, जो एशिया के लोगों के द्वारा एशिया के लोगों के लिए निर्मित हो।

उपनिवेशवाद से मुक्त हो कर एशियाई संस्कृति और साहित्य के अध्ययन की दिशा में एक कार्य पुरानी पोथियों की खोज और उनकी सूचियाँ बनाने का था। एडवर्ड सईद जैसे अध्येताओं ने इस कार्य के महत्त्व को समझा ही नहीं है, न उन अनुसंधानदाताओं का ही ज़िक्र किया है, जिन्होंने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा इस कार्य में खपा दिया। पश्चिमी विद्वानों ने पाण्डुलिपियों के संग्रह व उनके सूचीपत्र तैयार करने की ओर ध्यान दिया। एस.सी. बर्नेल ने 1880 में तंजौर के राजपुस्तकालय की वर्गीकृत सूची लंदन से प्रकाशित कराई। पाण्डुलिपियों के अध्ययन में रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का कार्य महनीय है। पाण्डुलिपियों की खोज पर इनके प्रतिवेदन 1884 से 1892 के बीच प्रकाशित हुए। इसी तरह स्टीन के द्वारा रघुनाथ मंदिर की पाण्डुलिपियों पर, हुल्ट्ज़ द्वारा दक्षिण भारत की तथा कलकत्ता की पाण्डुलिपियों पर प्रतिवेदन 1895–96 प्रकाशित कराए गये। इस दिशा में थियोडोर आफ्रेट ने प्रवर्तक तथा प्रेरक कार्य किया। संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों की आफ्रेट द्वारा निर्मित सूचियों के तीन खण्ड 1891, 1896 तथा 1903ई. में *कैटलागस कैटलगोरम* नाम से जर्मनी से लिपज़िग से प्रकाशित हुए। *कैटलागस कैटलगोरम* वास्तव में संस्कृत की पाण्डुलिपियों के अध्ययन के लिए मील का पत्थर है। बीसवीं शताब्दी में आफ्रेट के इस कार्य के अद्यतनीकरण हेतु व्ही. राघवन् ने पहल की और *न्यू कैटलागस कैटलगोरम* की बृहत् शोध–योजना को प्रवर्तित किया।

राघवन् के बाद *न्यू कैटलागस कैटलगोरम* के काम को कुंजुनी राजा तथा उनके बाद श्री अनिरुद्ध दास ने आगे बढ़ाया।

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 184

पाण्डुलिपियों की सूचियाँ तैयार करने के काम ने कम-से-कम भारत में तो ज्ञान के अद्वितीय अपूर्व भण्डार खोल दिये। ऋग्वेद तथा भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र,* कौटिल्य के *अर्थशास्त्र,* कालिदास और भवभूति के नाटक, *मुद्राराक्षस* और *मृच्छकटिक* जैसे रूपक, मुख्य पुराण आदि सैकड़ों ग्रंथ जो उन्नीसवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच छपे, उन्होंने दुनिया की तस्वीर बदल दी है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, तारानाथ तर्कवाचस्पति, जीवानंद विद्यासागर, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री जैसे महनीय पण्डितों ने संस्कृत की ज्ञाननिधि को संसार के सामने प्रस्तुत करने में जीवन खपा दिया। मैक्स मुलर की *सेक्रेड बुक्स ऑफ़ ईस्ट* जैसी प्रकाशन शृंखलाओं का भी इस अभियान में योगदान था। निर्णय सागर प्रेस की *काव्यमाला* सीरीज ने विश्व के प्रकाशन जगत् में जो इतिहास रचा, वह भारत में अभी तक बेमिसाल बना हुआ है। काव्यमाला सीरीज में संस्कृत के लगभग दो सौ दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सम्पादन-कला और मुद्रण की जिस परिपूर्णता के साथ छपे, वह आज तक उतनी ही स्पृहणीय बनी हुई है।

प्रफुल्ल चंद्र रे, विभूति भूषण दत्त, स्वामी सत्यानंद, सुकुमार रंजन दास, ब्रजेंद्रनाथ सील आदि ने भारत की वैज्ञानिक परम्परा पर अनुसंधान का जो सिलसिला जारी रखा, उसे एस.आर. शर्मा जैसे विद्वानों ने आगे बढ़ाया।

युरोप की आधिपत्यवादी सभ्यता और पश्चिमी इतिहासकारों के द्वारा भारत की ग़लत छवियाँ गढ़ने के प्रयासों का जवाब रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय, सुनीतिकुमार चटर्जी आदि भारतीय पण्डितों द्वारा दिया जा रहा था, इस प्रक्रिया को और भी गतिशील बनाया जाना था, पर हमारे समय में यह अलग-अलग ध्रुवों पर जा कर भटकती लग रही है। मूल ग्रंथों का प्रामाणिक अध्ययन कर के बेलाग पक्षपात रहित विवेचन करने वाले प्राच्य पण्डितों की जमात को धकिया कर अधकचरे अपढ़ लोग भारतीय संस्कृति और धर्म के व्याख्याकार बन गये हैं।

भारत में जो संस्थान बने,उन्हें इंस्टीट्यूट ऑफ़ ओरिएंटलिज़म का नाम नहीं दिया गया, न ही एशियाटिक सोसायटी या रॉयल सोसायटी जैसे नाम उनके लिए तजवीज़ किये गये। उन्हें इंस्टीट्यूट ऑफ़ ओरिएंटल लर्निंग, इंस्टीट्यूट ऑफ़ ओरिएंटल रिसर्च जैसे नाम दिये गये। इस तरह के लगभग सौ संस्थान हमारे देश में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में बने, जो औपनिवेशिक दौर की प्राच्यविद्या के समानांतर प्रतिरोधी थे। प्राच्यविद्या के विशारदों में और निष्णात पण्डितों में कुछ ऐसे भी थे, जो स्वदेशी और स्वराज की बात कर रहे थे। मैसूर के प्राच्यविद्या शोधसंस्थान की स्थापना महाराज चामराज दशम ने 1891 में की। इस संस्थान के पास दुर्लभ पाण्डुलिपियों का भण्डार और समृद्ध पुस्तकालय है। भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मण्डल की स्थापना 6 जुलाई 1917 को पूना में भी श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के जीवनकाल में उनके प्रशंसकों और शिष्यों के द्वारा की गयी थी। स्थापना के दिन ही रामकृष्ण भण्डारकर ने अपनी पुस्तकों और शोध संबंधी पत्रिकाओं का वृहत् पुस्तकालय संस्थान को अर्पित कर दिया। सन् 1919 में इस संस्थान ने पूना में प्रथम सर्वभारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन का आयोजन किया। उसने अपनी ओर से भी एक प्राच्य ग्रंथमाला का आरम्भ किया। अप्रैल, 1919 में उसने *महाभारत* का समीक्षित संस्करण प्रकाशित करने का काम हाथ में लिया, जो प्राच्यविद्या के अंतर्गत बीसवीं शती की सबसे बड़ी शोध-योजनाओं में एक है।

वडोदरा का गायकवाड़ ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट मैसूर के प्राच्यविद्या संस्थान के मॉडल पर महाराज सयाजीराव ने स्थापित किया। इसकी रूपरेखा 1893 में बनाई गयी, पर संस्थान 1927 में अस्तित्व में आया। इसमें 30140 पुरानी हस्तलिखित पोथियाँ हैं। *रामायण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तर पुराण* जैसे दुर्लभ ग्रंथ इसी संस्थान से प्रकाशित हुए।

प्राच्यविद्या के नाम पर बने संस्थानों तथा होने वाले आयोजनों की गतिविधियाँ प्रायः संस्कृत केंद्रित होकर रह जाती हैं, और भारत और एशिया की अन्य भाषाओं, लोक-संस्कृतियों तथा देशज

07radhaballav:Layout 1 9/16/2020 3:22 PM Page 185

परम्पराओं पर विमर्श छूट जाता है। संस्कृत के वर्चस्व और सर्वसमावेशिता की अवधारणा का भी परिमार्जन अपेक्षित है, प्राच्यविद्या को एक स्वीकार्य अनुशासन के रूप में विकसित किया जाना भी अपेक्षित है। प्राच्यविद्या के शोध-संस्थानों तथा भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राच्यविद्या के शैक्षणिक पाठ्यक्रम विकसित और लागू करने पर ध्यान जाना चाहिए।

विलियम जोंस द्वारा स्थापित एशियाटिक सोसाइटी अब राष्ट्रीय महत्त्व का संस्थान है। सोसाइटी ने संस्कृत और भारतीय भाषाओं के अनेक दुर्लभ ग्रंथों के साथ बदायूँनी की *तवारीख* और अबुल फ़ज़ल के *अक़बरनामा* के प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किये।

भारत जैसे देश में यदि उपनिवेशवाद न आता, तब भी प्राच्यविद्या का विकास होता, और अधिक स्वस्थ रूप में होता। युरोपीय अध्येताओं के द्वारा प्राच्य देशों के संस्कृति और साहित्य को एक स्वोपयोग की सामग्री मान कर जो अध्ययन एकतरफ़ा और अपने हक़ में किया जाता रहा है, उसकी जगह एशियाई संस्कृति के बृहत् परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए प्राच्यविद्या स्वाध्याय का एक बड़ा ज़रिया बनती। इस अध्ययन में भारतीय पण्डित निश्चित रूप से पश्चिम की संस्कृति को भी अपने मानकों से नापजोख कर रहे होते। यह प्रक्रिया अठारहवीं उन्नीसवीं सदियों में आरम्भ हो चुकी थी। उपनिवेशवाद ने इस प्रक्रिया को बाधित किया। गोविंद पिल्लै ने 1877 में ड्यूसन के *इलीमेंते देटर मेताफिज़ीक* नामक ग्रंथ का संस्कृत में अनुवाद किया, जो *अतीतप्राकृतिकशास्त्रम्* नाम से त्रिवेंद्रम् से 1912 में छपा। त्र्यंबक भण्डारकर ने संस्कृत में *पाश्चात्यदर्शनम्* नाम से पुस्तक लिखी। अरिंदम चक्रवर्ती की पुस्तक *प्राच्यप्रचीच्य दर्शनमीमांसा* भण्डारकर और रामचंद्रुडु के काम की अगली कड़ी है, यद्यपि अरिंदम अपने इन दोनों पूर्ववर्तियों के इस दिशा में किये गये कार्य से परिचित नहीं लगते।

प्राच्यविद्या उपनिवेशवादी सत्ता के अंत के साथ भारत तथा एशिया के अन्य देशों में पश्चिम के सामने पूर्व की सही तस्वीर खड़ी करने, उसकी अहम्मन्यता और आधिपत्यवाद का सामना करने के लिए एक प्रबल सकारात्मक और रचनात्मक प्रतिपक्ष रच सकती है।

पश्चिमी विद्वानों में हल्बफ़ास और भारतीय विचारकों में धर्मपाल भारत के धर्म और स्वधर्म के द्वारा पश्चिम की जीवन-शैली और आधिपत्य की आकांक्षा का समाधान देखते हैं।

जर्मनी के दार्शनिक हल्बफ़ास भारत की वर्तमान विसंगतियों और उलझनों का समाधान हिंदू धर्म की वैश्विक चेतना में देखते हैं। वे यह भी मानते हैं कि पश्चिम और पूर्व की मुठभेड़ अभी ख़त्म नहीं हुई है, और युरोप की आधिपत्यवादी-उपभोगवादी सभ्यता को भारत की ओर से उत्तर अभी दिया जाना शेष है।[5]

यह उत्तर प्राच्यविद्या के अध्ययनों को और अधिक विकसित करते हुए ही दिया जा सकता है।

संदर्भ

अमित रे (1968), *निगोशिएटिंग दि मॉडर्न : ओरिएंटैलिज़म ऐंड इंडियननैस इन दि एंग्लोफ़ोन वर्ल्ड,* रौटलेज, न्युयॉर्क और लंदन.

ओमप्रकाश केजरीवाल (1999), *एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल ऐंड दि डिस्कवरी ऑफ़ इंडियाज़ पास्ट, 1784-1838,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

इरफ़ान हबीब (2014), *मध्यकालीन भारत* ,अंक 6, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

एडवर्ड सईद (1978), *ओरिएंटलिज़म,* पेंगुइन बुक्स.

-------- (1985), 'ओरिएंटलिज़म रिकंसिडर्ड', *कल्चरल क्रिटीक,* अंक 1.

[5] हल्बफ़ास (1988) : 333.

एशियाटिक रिसर्चेज़, खण्ड 5.

केट टेल्टशर (1995), *इंडिया इंस्क्राइब्ड : युरोपियन ऐंड ब्रिटिश राइटिंग ऑन इंडिया,* 1600–1600, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

गारलैंड एच. कैनन (1964), *ओरिएंटल जोंस : अ बायोग्रैफ़ी ऑफ़ सर विलियम जोंस, 1746–1794,* एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई.

गारलैंड एच. कैनन (1979), *सर विलियम जोंस : अ बिब्लियोग्रैफ़ी ऑफ़ प्राइमरी ऐंड सेकेंडरी सोर्सेज़,* बेंजामिंस, एम्सटर्डम.

डेविड कॉफ़ (1969), *ब्रिटिश ओरिएंटैलिज़म ऐंड दि बंगाल रिनासाँ : द डायनैमिक्स ऑफ़ इंडियन मॉडर्नाइज़ेशन,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

थॉमस ट्राउटमान (1997), *दि आर्यंस ऐंड ब्रिटिश इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

नीरद सी. चौधुरी (1974), *स्कॉलर एक्सट्रा ओर्डिनरी : दि लाइफ़ ऑफ़ प्रोफ़ेसर राइट ऑनरेबल फ़्रीड्रिख़ मैक्स मूलर पी.सी.,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बलदेव उपाध्याय (1994), *संस्कृत शास्त्रों का इतिहास,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.

माइकेल एस. डॉडसन (2010), *ओरिएंटलिज़म, एम्पायर ऐंड नेशनल कल्चर : इंडिया, 1770–1880,* फ़ाउंडेशन बुक्स.

मातिल्दा डोरोथी फ़िगुएरिया (1991), *ट्रांसलेटिंग दि ऑरिएंट : रिसेप्शन ऑफ़ शकुंतला इन नाइनटींथ सेंचुरी युरोप,* स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क प्रेस, अल्बनी.

राधावल्लभ त्रिपाठी (2014), *नाट्यशास्त्र इन द मॉडर्न वर्ल्ड,* राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान एवं डी.के. प्रिंट, नयी दिल्ली.

राधावल्लभ त्रिपाठी (2017), 'फिर से पुराण — कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति,* जुलाई–दिसम्बर, वर्ष 5, अंक 10.

विल्हेम हल्बफ़ास (1988), *इंडिया ऐंड युरोप : ऐन एस्से इन अंडरस्टैंडिंग,* स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ़ न्युयॉर्क प्रेस, अल्बनी.

ज्ञान प्रकाश (1990), 'राइटिंग पोस्ट–ओरिएंटलिस्ट हिस्ट्रीज़ ऑफ़ द थर्ड वर्ल्ड : पर्सपेक्टिव फ़्रॉम इंडियन हिस्टोरियोग्रैफ़ी', *कम्पैरेटिव स्टडीज़ इन सोसायटी ऐंड हिस्ट्री,* खण्ड 32.